श्री वल्लभाचार्य

राष्ट्रीय जीवन-चरित माला

श्री वल्लभाचार्य

लेखक
विजयेन्द्र स्नातक

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

प्रथम संस्करण 1992 (शक 1914)

SHRI VALLABHACHARYA (Hindi)

रु० 14.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 के द्वारा प्रकाशित।

विषय सूची

भूमिका

मध्य युगीन कृष्णभक्ति संप्रदायों में वल्लभ संप्रदाय का स्थान अपनी कई विशेषताओं के कारण भारत के धार्मिक जगत् में पहली पंक्ति में गिना जाता है। चतु: संप्रदाय नाम से जिन चार वैष्णव मतावलम्बी संप्रदायों की गणना है उनमें भी श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित इस संप्रदाय को उच्च स्थान प्राप्त है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने दार्शनिक जगत् में शुद्धाद्वैत मत की स्थापना की। साहित्यिक जगत् में भागवत की सुबोधिनी टीका और ब्रह्म सूत्रों पर अणु भाष्य लिखकर संस्कृत भाषा के माध्यम से भागवत संप्रदाय को नवीन दिशा का निर्देश किया। अष्टछाप की स्थापना द्वारा ब्रजभाषा में साहित्य रचना करने वाले ब्रज के आठ कवियों को दीक्षा देकर विपुल साहित्य प्रस्तुत किया। उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने पिता की प्रेरणा से चार शिष्य बनाकर ब्रजभाषा साहित्य को समृद्ध किया। श्री वल्लभाचार्य ने देशाटन द्वारा अपने मत का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार किया। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने संप्रदाय की भक्ति पद्धति से अष्टयाम सेवा, विग्रह पूजा, अर्चा तथा नित्य-नैमित्तिक पर्व उत्सव आदि का शृंगार-समारोह जोड़कर वल्लभ संप्रदाय को लोकप्रिय बनाने में अमित योग दिया। इन दोनों महापुरुषों के ग्रंथों और उपदेशों से प्रभावित होकर वल्लभ-संप्रदाय उत्तर और पश्चिम भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गया।

श्री वल्लभाचार्य ने सामाजिक क्षेत्र में भी कई मौलिक स्थापनाएं कीं और जन-मानस को भगवत अनुग्रह की ओर आकृष्ट किया। पुष्टिमार्ग की स्थापना इस दिशा का एक प्रयास है। पुष्टिमार्ग में जातिगत ऊंच-नीच या वैभव संपत्ति को कोई स्थान नहीं है। आचार्य जी की दृष्टि मानवात्मा के विकास पर केंद्रित थी। मानव जीवन के वृहत्तर विकास की संभावनाओं को ध्यान में रखकर ही उन्होंने पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी। उनकी दृष्टि में देश की भौगोलिक सीमाओं अथवा क्षेत्रीयता की संकीर्ण भावनाओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। जन्मना स्वयं तेलुगु भाषी होने पर भी संस्कृत और हिंदी को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उनका जन्म तो मध्य प्रदेश में हुआ था किंतु मूल निवास आंध्र प्रदेश था। आंध्र प्रदेश को छोड़कर वे काशी, प्रयाग, मथुरा,

ब्रजमंडल में ही अधिक समय तक रहे और इस प्रकार उत्तर प्रदेश ही उनकी कर्मभूमि बनी रही । देशाटन के लिए आंध्र प्रदेश में आना-जाना होता रहा और इसी कारण उनकी सांप्रदायिक विचारधारा का प्रचार राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश में भी सतत होता रहा। राजस्थान में नाथद्वारा का मंदिर वल्लभ संप्रदाय का प्रमुख सेवा-अर्चा केंद्र है । ब्रज में मथुरा, गोकुल, गोवर्धन, राधाकुंड आदि स्थान भी वल्लभ संप्रदाय के पूज्य सेवा स्थल हैं।

मुगल साम्राज्य के समय अकबर और जहांगीर ने आचार्य वल्लभ और उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ को विस्तृत भूमि देकर उनके प्रति अपनी पूज्य भावना की अभिव्यक्ति की है। मुगलकालीन पट्टे-परवाने इस बात का प्रमाण हैं कि अकबर और जहांगीर वल्लभ संप्रदाय के धार्मिक कृत्यों में विघ्न-बाधा उपस्थित नहीं होने देते थे । आचार्य वल्लभ ने अपने शील, सदाचार और संयम से तत्कालीन सभी मतावलम्बियों को मोह लिया था। सांप्रदायिक सद्भाव बनाने में भी उनका अमित योगदान है । हिन्दू धर्म में व्याप्त पाखंड और कुरीतियों के निराकरण में भी उनका प्रदेय अविस्मरणीय है। इस पुस्तक में आचार्य जी के प्रमुख कार्यों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पुस्तक के लघु कलेवर को ध्यान में रखते हुए कुछ तथ्यों और घटनाओं का संकेत मात्र देकर संतुष्ट होना पड़ा है। आशा है, इस पुस्तक को पढ़कर पाठक के मन में आचार्य वल्लभ का जो चित्र उभरेगा वह केवल सांप्रदायिक, दार्शनिक या धर्मोपदेष्टा का ही न होकर एक प्रबुद्ध विचारक, सुधारक और महामानव का होगा।

दिल्ली

—विजयेन्द्र स्नातक

1

श्री वल्लभाचार्य का आविर्भाव काल

भारतवर्ष के इतिहास में मध्ययुग राजनीतिक उथल-पुथल और युद्ध-संघर्ष के साथ दो विराट जातियों के सांस्कृतिक समन्वय का युग है। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि उस युग में संस्कृति और धर्म विषयक परंपरागत भारतीय विचार-धारा को गहरा आघात सहना पड़ा था। मुगल शासकों के भय और आतंक के कारण हिन्दू जाति ने अपने धर्म की रक्षा के लिए भगवद्भक्ति का आश्रय ग्रहण कर पूजा-अर्चा का नवीन पथ प्रशस्त किया था। ईश्वरोपासना के लिए सगुण-साकार अवतारी विष्णु भगवान् की भक्ति का मार्ग उस युग की विशेष देन है। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने जिस अद्वैत वेदांत का प्रचार किया था वह जगत् के प्रति मिथ्यात्व और अनासक्ति का भाव तो जाग्रत कर सकता था किंतु ईश्वर विषयक रागात्मक प्रीति और प्रतीति को प्रश्रय देने वाला नहीं था। संन्यासी दंडी साधुओं की एक विशाल जमात तो पैदा हो गई थी किंतु भक्ति के लिए सुदृढ़ आलंबन का अभाव बना हुआ था। अद्वैत सिद्धांत में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता का ही अस्तित्व है, शेष संपूर्ण जगत् मिथ्या या मायाजन्य अविद्या से आवृत्त होने के कारण क्षणभंगुर एवं त्याज्य है। अतः सामान्य गृहस्थ जन के लिए निर्गुण-निराकार ईश्वरोपासना का मार्ग न तो आकर्षक था और न सहज स्वीकार्य हो सकता था। अत: उस युग में देश के प्राय: सभी भागों में बड़े-बड़े तत्वज्ञानी, उच्चकोटि के भगवद्भक्त और संप्रदाय प्रवर्तक मनीषी आचार्य उत्पन्न हुए। इन्हीं आचार्यों की परंपरा में श्री वल्लभाचार्य का नाम पहली पंक्ति में आता है।

श्री वल्लभाचार्य का जिस युग में जन्म हुआ वह युग राजनीतिक दृष्टि से मुगल साम्राज्य की सुदृढ़ स्थापना का था। हुमायूं के बाद अकबर का शासन उत्तर भारत में अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी इस्लाम की विचारधारा का प्रभाव बढ़ रहा था। भक्ति और धर्म के क्षेत्र में नवीन दार्शनिक मतवादों का उदय हो चुका था। शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में रामानुज, मध्व, निम्बार्क और विष्णु स्वामी के दार्शनिक सिद्धांत दक्षिण भारत से उत्तर भारत तक प्रसारित हो चुके थे। वल्लभाचार्य के आविर्भाव काल में इन सब मतवादों का संघर्ष चल रहा था। ऐसे संक्रांति काल में वल्लभाचार्य

इस धराधाम पर अवतरित हुए।

श्री वल्लभाचार्य का जीवन-वृत्त

श्री वल्लभाचार्य के पूर्वज आंध्र प्रदेश के कांकरवाड नामक गांव के मूल निवासी थे। इनके वंश में सोमयज्ञ का प्राचीन काल से विधान चला आ रहा था अत: सोमयाजी नाम से भी इन्हें जाना जाता है। वैसे यह वंश भारद्वाज गोत्रीय तैलंग ब्राह्मण परिवार है जिसे वेलनाट या वेल्लनाड् नाम से भी पुकारा जाता है। श्री वल्लभाचार्य के पितामह का नाम गणपति भट्ट था। गणपति भट्ट के पुत्र का नाम बालभट्ट और बालभट्ट के पुत्र का नाम लक्ष्मण भट्ट था। लक्ष्मण भट्ट ही वल्लभाचार्य के पिता थे। लक्ष्मण भट्ट अपने शैशव काल से ही तन्मयतापूर्वक ईश्वरोपासना में लीन रहने वाले एकांतप्रिय व्यक्ति थे। गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने की इनकी इच्छा नहीं थी किंतु इनके गुरु ने इन्हें आदेश दिया और विजयनगर के राज पुरोहित की दो कन्याओं से इनका विवाह कराया। इनकी पत्नियों के नाम यल्लमा और इल्लामामारू थे। लक्ष्मण भट्ट के गृहस्थाश्रम-प्रवेश का विशेष का कारण था सोमयज्ञ की वंश परंपरा को पूरा कर शतक्रतु बनकर भगवान् के अवतार का स्ववंश में आविर्भाव देखना। इनके गुरु ने बताया था कि तुम्हारे कुल में जो बालक उत्पन्न होगा वह शत सोमयज्ञ के फलस्वरूप अवतारी पुरुष होगा।

श्री लक्ष्मणभट्ट परम भक्त होने के साथ अपने वंश की परंपरागत मर्यादाओं के पालन में अटूट निष्ठा और श्रद्धा रखते थे। सोमयज्ञ की जो विधि इनके कुल में पांच पीढ़ियों से सतत चली आ रही थी उसे लक्ष्मण भट्ट ने पूरे विधि-विधान के साथ शताहुति द्वारा संपन्न किया। इस सोमयज्ञ की पूर्णाहुति के दिन लक्ष्मण भट्ट को एक दिव्य वाणी का शांत स्निग्ध घोष सुनाई दिया जो अवतारी महापुरुष के जन्म का संकेत देने वाला था। उनके मन में उसी दिन भारत के तीर्थ-स्थलों की यात्रा की बलवती इच्छा जाग्रत हुई। श्री लक्ष्मण भट्ट के लिए गुरु की आशीर्वाद-मयी भविष्यवाणी अत्यंत प्रेरणाप्रद सिद्ध हुई और वे सपत्नीक उत्तर भारत की तीर्थ यात्रा के लिए निकल पड़े। प्रयाग, गया और काशी की यात्रा के बाद इनका मन काशी निवास के लिए लालायित हो उठा और उन्होंने संवत् 1534 वि० में स्थायी रूप से हनुमान घाट पर रहने का निश्चय किया। श्री लक्ष्मण भट्ट के काशी निवास के समय ही काशी पर मुगलों के आक्रमण की जोर-शोर से चर्चा फैली। इस चर्चा से लक्ष्मण भट्ट भी चिंतित हुए क्योंकि उनकी पत्नी इल्लमा उस समय आसन्न प्रसवा थी। अत: इन्होंने काशी छोड़कर अपने मूल प्रदेश में जाने का निर्णय किया। इस निर्णय के बाद उनके साथी अन्य दाक्षिणात्य लोग भी उनके साथ दक्षिण की ओर चल पड़े। उन दिनों यातायात के साधन नहीं थे। पैदल

या बैलगाड़ी द्वारा ही यात्रा करनी पड़ती थी। उनकी पत्नी इल्लमा को गर्भावस्था में ही अपने पति के साथ यात्रा के लिए उसी दशा में निकलना पड़ा। यह एक कष्टप्रद कठिन यात्रा थी।

श्री लक्ष्मण भट्ट ने काशी से प्रस्थान करते समय जो मार्ग चुना था वह वर्तमान मध्य प्रदेश के रायपुर जिले में होकर जाता था। जब वे रायपुर के समीप पहुंचे तो उनकी पत्नी को प्रसवपीड़ा का अनुभव हुआ। जहां होकर वे जा रहे वह मार्ग चंपारण्य वन में से गुजरता था। इसी वन के एकांत स्थान में उनकी पत्नी इल्लमामारू ने शमी वृक्ष के नीचे एक पुत्र को जन्म दिया। बालक अठमासा था अतः निश्चेष्ट और देखने में संज्ञाहीन-सा लगता था। नवजात शिशु के जनक-जननी को भ्रम हुआ कि बालक मृत है अतः उन्होंने बालक को वृक्ष के कोटर में, कपड़े में लपेटकर, रख दिया।

श्री लक्ष्मण भट्ट और उनकी पत्नी इल्लमा ने जिस बालक को संज्ञाहीन और अचेत देखकर मृतवत् समझ लिया था वह बालक वास्तव में मृत नहीं था। वह तो शांत मुद्रा में गहरी नींद में सोया हुआ था। श्री लक्ष्मण भट्ट को अपने नवजात शिशु को देखने की इच्छा हुई और वे शमी वृक्ष के कोटर में पड़े शिशु के समीप पहुंचे। वहां पहुंचने पर वे विस्मय विमुग्ध हो उठे, उन्होंने देखा कि वह बालक मृत नहीं वरन् जीवित है और शांत भाव से कोटर में पड़ा हुआ मंद मुस्कान के साथ क्रीड़ा कर रहा है। लक्ष्मण भट्ट अपने पुत्र को इस अवस्था में देखकर आनंद विभोर होकर अपनी पत्नी इल्लमा के पास गए और शिशु के जीवित होने का समाचार दिया। इल्लमा अपनी दुर्बल दशा में भी दौड़कर शिशु के पास पहुंची और उसे स्तनपान कराकर उल्लसित हो उठीं। यह घटना संवत् 1535 वैशाख कृष्ण पक्ष एकादशी, दिन रविवार की है। ईस्वी सन् के हिसाब से 1478 में इस अवतारी बालक का जन्म हुआ। श्री वल्लभ के जन्म-स्थान और जन्म-तिथि के विषय में कुछ मतभेद भी मिलता है किंतु अधिकांश ग्रंथों के आधार पर इनका जन्म-स्थान रायपुर जिले में स्थित चंपारण्य नामक स्थान ही है और जन्म-तिथि विक्रम संवत् 1535 ही है। चंपारण्य नामक स्थान को कुछ विद्वान् काशी के समीप का वन तथा अन्य विद्वान् बिहार का चंपारण्य मानते हैं। वास्तव में काशी या बिहार के चंपारण्य स्थानों में वल्लभाचार्य विषयक कोई स्मृति चिह्न न होने से मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में स्थित चंपारण्य को ही उनकी जन्मभूमि मानना उचित प्रतीत होता है। मध्यप्रदेश के वर्तमान चंपाझर नामक स्थान में वल्लभाचार्य जी की बैठक बनी हुई है और प्रतिवर्ष वहां इनका जन्मोत्सव भी मनाया जाता है। 'कांकरौली का इतिहास' पुस्तक में भी इसी मध्यप्रदेशीय चंपारण्य को वल्लभाचार्य जी की जन्मभूमि माना गया है।

नवजात शिशु की भलीभांति देखभाल करने के उपरांत लक्ष्मण भट्ट के सामने

आगे की यात्रा का जटिल प्रश्न खड़ा था। दक्षिण की ओर यात्रा करने में कई महीने लग सकते थे। अतः उन्होंने काशी लौटने का निर्णय लिया। उन्हें यह भी समाचार मिल गया था कि जौनपुर के मुगल शासक काशी से वापस चले गए हैं और उनका आतंक समाप्त हो गया है। काशी में अब धार्मिक कृत्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। इस शुभ सूचना के आधार पर श्री लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी इल्लमा और अपने दाक्षिणात्य बंधुओं के साथ नवजात बालक को पूरी सुरक्षा के साथ लेकर काशी आ गए। काशी में उनके निवास आदि की पूरी व्यवस्था उनके एक श्रद्धालु भक्त सेठ कृष्णदास ने कर दी थी। सेठ कृष्णदास को यह विश्वास हो गया था कि दक्षिण प्रदेश से आने वालों के साथ ही एक ऐसा सोमयाजी परिवार है जिसमें दिव्य पुरुष का अवतार होगा। यह परिवार श्री लक्ष्मण भट्ट का ही था और इसमें एक नवजात शिशु वल्लभ के नाम से जन्म ले चुका था। सेठ कृष्णदास ने हनुमान घाट पर सब लोगों के रहने की पूर्ण सुविधाजनक व्यवस्था कर दी थी। यही स्थान बाद में वल्लभाचार्य का आवास बना।

श्री लक्ष्मण भट्ट ने अपने नवजात पुत्र को भगवान् के अवतार के रूप में ग्रहण किया और बालक की सेवा-सुश्रूषा परिचर्या में उसी विधि को स्वीकार किया जो किसी अवतारी दिव्य पुरुष के लिए की जाती है। इस विधि के कारण परवर्ती काल में श्री वल्लभाचार्य को उनके अनुयायी विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण का मुखावतार या अंशावतार मानते हैं और इसी रूप में उनकी सेवा-पूजा करते हैं।

श्री वल्लभाचार्य का नामकरण संस्कार जन्म के ग्यारहवें दिन काशी में विद्वान् पंडितों और ज्योतिषियों की उपस्थिति में किया गया और सर्वप्रिय होने से उसे 'वल्लभ' नाम दिया गया। वल्लभ सबको प्यारा था, वही आगे चलकर वल्लभाचार्य बना।

श्री वल्लभ का शैशव

श्री वल्लभाचार्य के शैशव के संबंध में वार्ता साहित्य आदि से जो जानकारी मिलती है वह इतिहास सम्मत तो नहीं है किंतु श्रुति परंपरा से संप्रदाय में अनेक बातें ऐसी प्रचलित हैं जिन्हें हम श्रद्धा समन्वित भाव से सहज ही स्वीकार कर सकते हैं। इनके परिवार के विषय में इतना परिचय मिलता है कि इनकी दो बहिनें और तीन भाई थे। अग्रज का नाम रामकृष्ण भट्ट था। कहा जाता है कि वे बड़े तपस्वी साधक थे। उन्होंने माधवेन्द्र पुरी से दीक्षा लेकर शिष्यत्व ग्रहण किया था। बाद में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था और केशवपुरी नाम से विख्यात हो गए थे। वल्लभाचार्य के दो छोटे भाई रामचंद्र और विश्वनाथ थे। रामचंद्र भट्ट ने

अनेक ग्रंथों की रचना की है। काशी में रहते हुए बालक वल्लभ ने काशी के पंडितों से अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया और बारह वर्ष की आयु में ही शास्त्रार्थ परायण विद्वान् शास्त्रवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध हो गए थे। संवत् 1546 में अपने माता-पिता के साथ जगदीशपुरी गए और वहां से दक्षिण देश की यात्रा पर चले गए। इसी बीच इनके पिता श्री लक्ष्मण भट्ट का परलोकवास हो गया। ऐसी प्रसिद्धि है कि अध्ययन काल में वल्लभाचार्य ने शास्त्रों के मर्म को समझने के लिए पंडितों के साथ विचार-विमर्श की परिपाटी प्रारंभ की थी। इस नूतन परिपाटी से शास्त्रार्थ की नींव पड़ी और वल्लभाचार्य ने अनेक पंडितों के साथ भक्ति मार्ग के विषय में संवाद-शास्त्रार्थ किए। वेदांत की शुद्धाद्वैतपरक नूतन व्याख्या का श्रेय भी इसी काल को दिया जाता है।

बालक वल्लभ को शैशवावस्था से ही भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं के अनुकरण में आनन्द प्राप्त होता था। जब कभी बालक को घर में एकांत-शांत वातावरण मिलता वह भगवद् विग्रह के सामने पूजागृह में शांत मुद्रा में बैठ जाता और ध्यानमग्न होकर श्रीकृष्ण की उपासना में डूब जाता। शैशव से ही वल्लभ को गौ पूजा में अति आनंद मिलता था। जनश्रुति है कि घर की पालतू दुधारू गौ एक दिन अचानक बीमार हो गई और रुग्णावस्था में बेचैनी के कारण पैर पटकने लगी। सारा परिवार चिंतित हो उठा। दवा-दारू और जादू-टोने के उपचार से भी कोई लाभ न हुआ तो बालक वल्लभ ने गौ के ऊपर हाथ फेरना शुरू किया। वल्लभ के हाथ के मृदुल स्पर्श से गौ में चेतना का संचार हुआ और वह उठ खड़ी हुई। परिवार के सभी लोग इस स्पर्शजनित चिकित्सा से चकित हो गए और शीघ्र ही वल्लभ की यह गौ रक्षा की कहानी काशी में फैल गई। भक्त जन के मन में यह विश्वास दृढ़ से दृढ़तर होने लगा कि यह बालक सामान्य शिशु न होकर अवश्य ही कोई दिव्य पुरुष है।

बालक वल्लभ की मेधा शक्ति के विषय में भी अनेक किंवदंतियां प्रचलित हैं। कहते हैं कि श्रीमद्भागवद का उन्हें जन्मजात ज्ञान था। जब कभी वे भागवत पुराण पढ़ते, उसमें तन्मय होकर देह की सुधबुध भूल जाते और शुद्ध उच्चारण के साथ श्लोकों के गूढ़ार्थ की प्रतीति-सी कराते हुए लगते थे। श्रोता और दर्शक उन्हें भागवत पढ़ते हुए देखकर यही समझते थे कि साक्षात् बाल रूप में श्रीकृष्ण ही उनके आंगन में अवतरित हुए हैं। भागवत के अतिरिक्त दर्शन के ग्रंथों में भी उनकी गहरी रुचि थी और दर्शनशास्त्र की गहन गुत्थियां सुलझाने में उनके वैदग्ध की विद्वत्समाज भी प्रशंसा करता था।

माता-पिता की पुत्र के प्रति आस्था

श्री वल्लभाचार्य के प्रति उनके माता-पिता की वात्सल्य भावना तो सहज

स्वाभाविक थी। प्रत्येक माता-पिता अपने पुत्र को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता है किंतु पुत्र के प्रति गौरव की बुद्धि माता-पिता में नहीं होती। वल्लभ के माता-पिता अपने पुत्र को सामान्य बालक नहीं मानते थे। उनके मन में यह विश्वास आस्थापूर्वक घर कर गया था कि उनका पुत्र केवल पुत्र ही नहीं वरन् यह एक अवतारी पुरुष है। भगवान् का अंशावतार है। इसी बुद्धि से वे सदा व्यवहार भी करते थे। वल्लभ को प्यार से पुकारते समय भी उनकी वाणी में भगवदास्था का भाव रहता था। अपने पुत्र को विद्या-विनय संपन्न देखकर लक्ष्मण भट्ट ने इस संसार से मुक्त होने का संकल्प किया। उनकी समस्त मनोकामनाएं पूर्ण हो चुकी थीं और वे इस असार संसार को त्यागकर मुक्त होना चाहते थे। उन्होंने अपने पुत्र वल्लभ को बुलाकर वात्सल्य भाव से कहा—"प्यारे पुत्र ! मैं अपने आपको कृतकृत्य मानता हूं क्योंकि तुमने मेरे घर में जन्म लिया और मुझे जनक होने का गौरवपूर्ण पद प्रदान किया। मैं जानता हूं कि तुम साधारण सांसारिक व्यक्ति न होकर अवतारी पुरुष हो ! तुम भक्ति मार्ग के धूमिल पथ को प्रशस्त करने के लिए इस संसार में अवतरित हुए हो। सोमयज्ञ करने वाले इस परिवार में जन्म लेकर तुमने पूरे वंश का ही उद्धार नहीं किया वरन् संसार का उद्धार भी तुम्हें करना है। मैंने इस जीवन में समस्त सुख-वैभव प्राप्त कर लिया। मेरा जीवन सफल हुआ। मैं अब इस कायिक रूप में संसार में रहना नहीं चाहता। मैं चाहता हूं कि तुम प्राणिमात्र के उद्धार के लिए नवीन भक्ति मार्ग का उद्‌घाटन करो और मुझे इस क्षणभंगुर संसार से मुक्त होने का अवसर दो। ईश्वर में अटूट आस्था रखते हुए अविचल भाव से जो भक्ति-पथ पर आरूढ़ रहते हैं उन्हें कभी किसी प्रकार के संकट का सामना नहीं करना पड़ता। मैंने शतक्रतु बनकर अपने वंश की परंपरा का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। अब मेरे लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं है अतः मैं निश्चित भाव से वैकुंठवास की स्थिति में जाना चाहता हूं।" अपने पुत्र वल्लभ से यह विचार व्यक्त करने के बाद उन्होंने अपनी पत्नी से भी प्रबोधते हुए स्वर में कहा, "देवि, हमारे घर में भगवान् का अवतार हो गया है। हम परम सौभाग्यशाली हैं। तुम भी इस पुत्र की सेवा करके अपना भाग्य और परलोक सुधार सकती हो। मैं अब इस जगत् के जंजाल से छुटकारा पाना चाहता हूं किंतु मेरी इच्छा है कि तुम अपने पुत्र का यश और भाग्योदय देखने के लिए अभी कुछ काल तक इस संसार में रहो। हम दोनों ने अपने कर्तव्य का विधिवत् पालन किया है। किसी प्रकार का दुख या असंतोष हमारे जीवन में नहीं है अतः अब लंबे समय तक इस संसार में रहना अच्छा नहीं। तुम अपने पुत्र के यशस्वी जीवन की साक्षी बनकर अपनी वत्सलता से पुत्र को प्रसन्न रखो। जब यह काम पूरा हो जाएगा तब तुम भी मोक्ष की अधिकारिणी बन जाओगी।"

इस लंबे वार्तालाप प्रसंग के बाद श्री लक्ष्मण भट्ट ने इस संसार से विदा ली। उनके पुत्र वल्लभ ने पिता के वैकुंठवास के बाद उनके क्रियाकर्म आदि को धार्मिक रीति से पूर्ण किया। इस कार्य के संपन्न करने में उन्हें पूरे एक वर्ष का समय लगाना पड़ा : यह वर्ष उनके कर्मकांड को विधिपूर्वक जनसमुदाय के सामने लाने वाला सिद्ध हुआ। काशी की जनता ने किशोर वल्लभ के अपने पूज्य पिता के प्रति समर्पित श्रद्धाभाव को देखा और सराहा। इसका जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा और वल्लभ की प्रतिष्ठा में चार चांद लग गए।

श्री वल्लभाचार्य की धार्मिक यात्राएं

अपने पिता की मृत्यु के बाद वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए देश-देशांतर की यात्राओं का कार्यक्रम बनाया। इन यात्राओं में सर्वप्रथम उनका ध्यान अपने पूर्वजों के मूल निवासस्थान आंध्र प्रदेश के कांकरवाड नामक स्थान की ओर गया। यहां उनके अग्रज निवास करते थे। कांकरवाड से होकर अपनी माताजी के साथ वे विद्यानगर गए जहां उनके मामा रहते थे। इस प्रकार सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से विचरण करने की अपनी बलवती इच्छा से वे भ्रमण के लिए निकल पड़े। वल्लभ संप्रदाय में इन यात्राओं को 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' अथवा 'वल्लभ दिग्विजय' नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन यात्राओं का विवरण वार्ता साहित्य में उपलब्ध होता है।

देशाटन के विचार से वल्लभाचार्य जी ने यात्राओं का कार्यक्रम तो संवत् 1546 से ही प्रारंभ कर दिया था और प्रमुख तीर्थ स्थानों में घूम आए थे। संवत् 1546 के अंत में वे उज्जैन की यात्रा पर गए थे। उज्जैन में उन्होंने संवत् 1547 के प्रथम दिवस चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को उज्जैन के तीर्थ पुरोहित नरोत्तम शर्मा को वृत्ति पत्र देकर कृतार्थ किया था। उज्जैन से भ्रमण करते हुए वे ओड़छा पहुंचे। ओड़छा उस समय क्षत्रियों का एक सुप्रसिद्ध राज्य था और वहां पंडितों तथा कवियों का सम्मान होता था। ओड़छा में षट सरस्वती नामक एक प्रसिद्ध तांत्रिक रहता था जो अपने तंत्र शास्त्र से अनेक विद्वानों को पराजित कर चुका था। श्री वल्लभाचार्य का उसके साथ शास्त्रार्थ हुआ और उन्होंने उस दंभी तांत्रिक को पराजित कर अपनी विद्वत्ता की विद्वन्मंडली पर गहरी छाप छोड़ी। उनकी इस लंबी यात्रा का सारा प्रबंध सेठ कृष्णदास ने ही किया था।

प्रथम यात्रा के समय कांकरवाड (आंध्र प्रदेश) में उनका भव्य स्वागत हुआ क्योंकि वहां की जनता को वल्लभाचार्य की विद्वत्ता एवं शास्त्रार्थ विजय का पता चल गया था। उनकी भक्ति साधना की नूतन पद्धति के विषय से भी लोग परिचित हो चुके थे। उनके बड़े भाई रामकृष्ण ने इनके सम्मान का पूरा प्रबंध किया। वल्लभाचार्य भी पूरे आत्मीय भाव से सबसे मिले और अपने पूर्वजों

की पुण्यभूमि के दर्शन कर स्वयं कृतार्थ हुए।

इस यात्रा के बाद उन्होंने धार्मिक दृष्टि से प्रवचन एवं शास्त्रार्थ आदि के उद्देश्य से यात्रा करना प्रारंभ किया। इन यात्राओं में उन्हें शारीरिक श्रम तो करना पड़ा किंतु अपने भक्ति सिद्धांतों के प्रचार का पूरा मौका मिला। जहां कहीं वे गए, पंडितों से मिले, शास्त्र चर्चा की और अपने भक्ति विषयक सिद्धांतों की विस्तारपूर्वक व्याख्या की। फलत: संपर्क में आने वाले सभी विद्वान् पंडित इनके विचारों से सहमत होते गए और वल्लभाचार्य को एक आचार्य पद का अधिष्ठाता मानकर व्यवहार करने लगे।

प्रथम यात्रा के समय में ही संवत् 1550 में ब्रज यात्रा के लिए निकले थे। ब्रज में आने पर उन्होंने चातुर्मास का कार्यक्रम बनाया और गोकुल नामक स्थान का महत्व ब्रजवासियों को बताकर उसका प्राकट्य किया। गोकुल से वल्लभाचार्य जी मथुरा आए और पुष्टिमार्गीय संप्रदाय की स्थापना की। मथुरा में विश्राम घाट पर जो यंत्र-बाधा लगी हुई थी उसे दूर किया। इस यंत्र-बाधा के संबंध में अनेक प्रकार की किंवदंतियां प्रचलित हैं। कहा जाता है कि दिल्ली के तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी के कामगार रुस्तमखां ने विश्राम घाट पर एक ऐसा यंत्र टांग दिया था जो हिन्दुओं के यमुना स्नान के समय पीड़ा पहुंचाता था और उनकी चोटी काट देता था। मथुरा के चौबों ने श्री वल्लभाचार्य जी से अनुरोध किया कि सुलतान सिकन्दर लोदी से कहकर इस यंत्र-बाधा को दूर करवा दें। कहते हैं कि वल्लभाचार्य ने अपना संदेश देकर दो सेवकों को दिल्ली भेजा और सिकन्दर लोदी ने इस यंत्र-बाधा को हटवा दिया। यंत्र-बाधा दूर होने से मथुरावासियों पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

गोकुल के उद्धार या प्राकट्य की वार्ता भी इसी प्रकार के चमत्कारी वर्णनों से परिपूर्ण है। गोकुल का वर्णन पुराणों में श्रीकृष्ण की बाललीला स्थली के रूप में मिलता है। वल्लभाचार्य जी उस स्थान का अन्वेषण करना चाहते थे जहां श्रीकृष्ण ने अपनी बाललीलाएं की थीं। इधर-उधर छानबीन करने पर उन्हें गोविंदघाट नामक स्थान ही असली गोकुल प्रतीत हुआ और उन्होंने उसी स्थान को गोकुल नाम दिया। इसी स्थान पर वल्लभाचार्य जी ने भागवत कथा का साप्ताहिक पारायण किया था। संवत् 1550 की श्रावण शुक्ल एकादशी के दिन यह पारायण पूर्ण हुआ और वल्लभाचार्य जी के अंतर्मन में ऐसा दिव्य आभास हुआ कि आज के दिन गोविंदघाट पर अपने मत की **पुष्टि मार्ग** नाम से स्थापना की जाए। उन्होंने अपने 'सिद्धांत रहस्य' नामक ग्रंथ में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है—उन्होंने लिखा है—"श्रावण मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी की रात्रि के समय साक्षात् भगवान् ने कहा कि जीवों की देहगत पंचविध दोषों की निवृत्ति के लिए उन्हें ब्रह्म-संबंध की दीक्षा दें।" इस अंत:प्रेरणा से प्रेरित होकर

उन्होंने सर्वप्रथम अपने प्रमुख सेवक दामोदरदास हरसानी नामक व्यक्ति को समर्पण मंत्र द्वारा ब्रह्म संबंध की दीक्षा दी। दीक्षा के उपरांत उसी दिन उन्होंने गोविंद घाट पर पुष्टि मार्ग की भी स्थापना की। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में यह संदर्भ विस्तारपूर्वक वर्णित है। वार्ताकार के अनुसार कुछ ब्रजवासियों ने भी वल्लभाचार्य जी से मंत्रदीक्षा ग्रहण की थी। उनमें नारायणदास ब्रह्मचारी और अच्युतदास के नाम का उल्लेख है।

इस प्रथम यात्रा में उन्हें सात वर्ष का समय लगा और तीर्थ स्थानों का भ्रमण करते तथा प्रवचन आदि करते हुए उन्होंने संवत् 1553 में अपनी यात्रा पूर्ण की। इस यात्रा की उपलब्धि यही कही जा सकती है कि पहले उन्होंने आंध्र प्रदेश में अपने पूर्वजों का निवास स्थान देखा, अपनी माता जी का मायका देखा, ब्रज में गोकुल की लीला स्थली की खोज की और मथुरा में विश्राम घाट पर सुलतान द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों को दूर कराया।

श्री वल्लभाचार्य की **दूसरी यात्रा** का भी विशेष महत्व है। इस यात्रा में उन्होंने ब्रज में गोवर्धन नामक स्थान पर जाकर वहां की गिरिराज पहाड़ी पर श्री नाथ जी के विग्रह का प्राकट्य कर उसकी विधिवत् सेवा-पूजा प्रारंभ कराई। यह यात्रा संवत 1554 वि० की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया को प्रारंभ हुई थी। गोवर्धन पर्वत के चारों ओर भ्रमण करते हुए और उसके माहात्म्य का उद्घाटन करते हुए उन्होंने ब्रजवासियों का ध्यान इस पर्वत की ओर आकृष्ट किया। उस समय कुछ ब्रजवासी इनके शिष्य बने और उनके द्वारा प्रवर्तित सेवा-पूजा पद्धति से उपासना में संलग्न हो गए। सद्दू पांडे, रामदास चौहान, कुंभनदास आदि इनके प्रमुख शिष्य थे जो निरंतर आचार्य जी के निकट रहकर उनकी सेवा में लीन रहते थे।

गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की पद्धति स्थापित करने के बाद आचार्य जी ने महाराष्ट्र के विख्यात तीर्थ पंढरपुर की यात्रा का कार्यक्रम बनाया। पंढरपुर में विट्ठलेश भगवान् के दर्शन करने के बाद उनका मन अपनी माताजी के पास विद्यानगर जाने को हुआ और माता जी को साथ लेकर वे काशी वापस आ गए। काशी आने पर उनके विवाह का प्रसंग आया। संवत् 1558 आषाढ़ शुक्ला पंचमी को मधुमंगल नामक सजातीय ब्राह्मण की कन्या महालक्ष्मी (अक्का जी) के साथ उनका विवाह संपन्न हुआ। विवाह के समय महालक्ष्मी की आयु केवल आठ वर्ष की थी। अत: वल्लभाचार्य जी ने यह उचित समझा कि पत्नी के युवती होने तक वे यात्रा पर रहें और धर्म प्रचार का कार्य करें। फलत: वे तीसरी यात्रा पर सबसे पहले गोवर्धन ब्रजयात्रा पर गए।

श्री वल्लभाचार्य के जीवन में यह **तीसरी यात्रा** कई दृष्टियों से अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह यात्रा संवत् 1558 के पौष मास में प्रारंभ हुई। इसी यात्रा

के समय उनकी भेंट अंबाला निवासी सेठ पूरनमल खत्री से हुई जिसने श्रीनाथ जी का मंदिर बनाने की योजना तैयार की थी। वल्लभाचार्य जी के गोवर्धन आने पर संवत् 1559 वैशाख कृष्णा तृतीया को इस मंदिर का निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ। यह मंदिर संवत् 1564 में बनकर तैयार हुआ जिसमें वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी के स्वरूप की विधिवत् प्रतिष्ठा की। विग्रह की स्थापना के बाद सेवा-पूजा की अपनी नवीन पद्धति से मंदिर में भक्तों का आगमन और दर्शन आदि का क्रम जारी हुआ।

अपनी इस तीसरी यात्रा में उन्होंने पुनः विद्यानगर जाने का कार्यक्रम बनाया। विद्यानगर की यह यात्रा उनके शास्त्रार्थ के कारण महत्वपूर्ण है। विद्यानगर के विद्वान् पंडित वल्लभाचार्य के दार्शनिक विचारों को स्वीकार नहीं करते थे। उनके मत में अद्वैत वेदांत की विचारधारा ही पूर्ण थी किंतु शास्त्रार्थ होने पर वल्लभाचार्य जी ने अपने **शुद्धाद्वैत** मत की तर्क-प्रमाण पुरस्सर स्थापना द्वारा पंडितों को परास्त किया और विजयी होकर राजा कृष्णदेव राय से सम्मान प्राप्त किया। इस सम्मान को संप्रदाय के वार्ता साहित्य में '**कनकाभिषेक**' के नाम से जाना जाता है। यह शास्त्रार्थ संवत् 1565-66 में हुआ था। इसके बाद आचार्य जी यात्रा समाप्त कर संवत् 1566 में वापस काशी आ गए। कनकाभिषेक होने के बाद श्री वल्लभ को आचार्य रूप में स्वीकार किया गया और उनके उपदेश, प्रवचन, ग्रंथ लेखन आदि को भक्त समाज में समादृत समझकर व्यवस्था के रूप में ग्रहण किया जाने लगा।

इन तीनों यात्राओं द्वारा श्री वल्लभाचार्य जी ने जीवन के विविध पहलुओं का साक्षात्कार किया। नाना प्रकार के अनुभव, ज्ञान-विज्ञान के विलक्षण पक्ष, शास्त्रार्थ आदि द्वारा पांडित्य का प्रभाव समाज पर डालकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। विवाह तो उनका संवत् 1558 में ही हो गया था किंतु पत्नी की अल्पायु होने से आठ वर्ष का समय उन्होंने यात्रा में व्यतीत किया। गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण पूरा कराया और विग्रह की स्थापना के बाद सेवा-पूजा की पद्धति प्रचलित की।

ब्रज प्रदेश को आचार्य जी की देन

श्री वल्लभाचार्य जी ने मध्ययुग में ब्रज प्रदेश को अपनी सांप्रदायिक, दार्शनिक, भक्ति विषयक, धार्मिक विचारधारा से नव जीवन प्रदान किया। उनके ब्रज में आगमन से पूर्व वृंदावन में तो भक्ति की लहर व्याप्त थी किन्तु ब्रजवासी समाज ब्रज मंडल श्रीकृष्ण की लीला स्थलियों से न तो परिचित था और न ब्रज में कृष्ण भक्ति की कोई विशिष्ट पद्धति ही प्रचलित थी। आचार्य जी ने सबसे पहले गोकुल और गोवर्धन जैसे स्थानों का प्राकट्य किया और जनता को इनका महत्त्व

बताया। ये दोनों पवित्र स्थान श्रीकृष्ण की लीला भूमि रहे हैं। श्रीकृष्ण की बाललीलाएं गोकुल में और किशोर लीलाएं गोवर्धन में संपन्न हुई थीं। पुराणों में इन विविध लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। वल्लभाचार्य जी ने पुराणों के आधार पर ही इन स्थानों के महत्त्व को आंका और इनका महत्त्व प्रदर्शित किया।

मथुरा नगर में भी आचार्य जी ने अपनी दिव्य शक्ति का प्रदर्शन किया। विश्राम घाट के उद्धार का श्रेय तो आचार्य जी को ही है। सुलतान सिकन्दर लोदी तथा अन्य मुगल सरदारों ने मथुरा नगर को ध्वंस करने में कोई कसर उठा न रखी थी। इनके आतंक और भय के कारण हिन्दू जनता ने अपने धार्मिक कृत्य भी बंद कर दिए थे। सेवा-पूजा के समय शंख-घंटे आदि बजाना वर्जित था। तिलक आदि लगाकर नगर में घूमना मना था। जनता भयभीत रहती थी। ऐसे संकट के समय श्री वल्लभाचार्य ने सुलतान के पास अपना प्रेम संदेश भेजा और मानवीय स्तर पर जनता को अपनी सुविधानुसार धार्मिक कृत्य करने की छूट दिलवाई। यह बड़ा काम था जो शस्त्र या युद्ध के द्वारा उस समय संभव नहीं था। इसे आचार्य जी ने अपनी स्नेहमयी वाणी के प्रभाव से पूरा किया।

गोवर्धन में सेठ पूरनमल खत्री द्वारा श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण भी ब्रज को आचार्य जी की देन है। गोवर्धन जैसे उपेक्षित स्थान के प्रति जन मानस को केवल आकृष्ट ही नहीं किया वरन् उस पावन भूमि को परिक्रमा के योग्य बनाकर पूजा स्थली ही बना दिया। गोवर्धन ब्रजवासियों के लिए आज इतना पूजनीय स्थान बन गया है कि मास की प्रत्येक पूर्णिमा के दिन हजारों की संख्या में भक्तगण गोवर्धन में परिक्रमा करने जाते हैं। वर्ष में कई पर्व-उत्सव गोवर्धन में मनाए जाते हैं। भरतपुर राज्य के नरेशों का तो गोवर्धन इष्टदेव ही है। गोवर्धन में एक नहर है जिसे मानसी गंगा के नाम से पुकारा जाता है। भक्तगण इसमें श्रद्धापूर्वक पर्व के दिन स्नान करते हैं।

ब्रजमंडल में भक्ति का नवोन्मेष

श्री वल्लभाचार्य जी की मातृभाषा तो तेलुगु थी, शिक्षा द्वारा अर्जित भाषा संस्कृत थी। बोलचाल की हिंदी भाषा उन्होंने काशी और प्रयाग में रहकर सीखी थी। ब्रज भाषा का अभ्यास अपने शिष्य-सेवकों के संपर्क से किया था किंतु अपने शिष्यों द्वारा ब्रजभाषा की जैसी सेवा और समृद्धि आचार्य जी ने की वैसी किसी अन्य आचार्य द्वारा संभव नहीं हुई। सूरदास आदि ब्रजभाषा के मूर्धन्य कवि आचार्य जी के ही शिष्य थे जिन्हें अष्टछाप के नाम से जाना जाता है। उनकी ब्रजभाषा तथा पुष्टिमार्ग की सेवा का वर्णन आगे किया जाएगा।

ब्रजमंडल में भक्ति का वातावरण जिस रूप में था उसे परिवर्तित करने में

वल्लभाचार्य जी के योगदान का मूल्यांकन करने के लिए ब्रज में बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त आदि मतों के साथ वाममार्गी लोगों का भी जमघट था जो प्रच्छन्न रूप से अपने क्रियाकलाप को जनता में फैलाते थे। मथुरा तो जैन धर्म का प्रधान केंद्र था। शक-कुषाण काल से जैन धर्मावलंबी मथुरा में स्थायी रूप से निवास कर रहे थे और मथुरा के आस-पास उनके मंदिर-स्थानक आदि बने हुए थे। जंबू स्वामी का प्राचीन मंदिर आज भी मथुरा शहर से बाहर दो मील की दूरी पर अवस्थित है। मथुरा के पुरातत्व विभागीय संग्रहालय में अनेक जैन एवं बौद्ध मूर्तियां एकत्र करके रखी गई हैं जिनके आधार पर इन धर्मों का प्रभाव मथुरा तथा ब्रजक्षेत्र में आंका जा सकता है। शैव और शाक्त मतावलंबी विपुल संख्या में मौजूद थे। ब्रजमंडल में नाना धार्मिक विचारधाराओं के कारण भक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं था। रामानंदी साधु भी ब्रज में विद्यमान थे और रामोपासना भी प्रचलित थी। इस स्थिति में श्री वल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति का नवीन मार्ग और भक्ति में सेवा-पूजा की नवीन पद्धति को प्रश्रय देकर ब्रजभूमि को कृष्णमय बना दिया। इस भक्ति मार्ग को कृष्णमय बनाने में चैतन्य संप्रदाय के प्रवर्तक श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु और उनके बंगाली शिष्यों का भी योगदान अविस्मरणीय है। ब्रज-मंडल में प्रेम-भक्ति की लहर इन्हीं भक्तों की वाणी से प्रवाहित हुई थी। ब्रजमंडल का प्रामाणिक इतिहास साक्षी है कि चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य के ब्रज आगमन से पूर्व वृंदावन, गोकुल, गोवर्धन, राधाकुंड, आदि स्थानों के विषय में कोई सही जानकारी नहीं थी। वृंदावन जैसा स्थान भी वन के रूप में ही था। चैतन्य महाप्रभु के गोस्वामी शिष्यों ने इसे आवास योग्य बना कर तीर्थ का सुंदर रूप दिया। उन्होंने सबसे पहले मदनमोहन जी के मंदिर का निर्माण कराया और कृष्ण भक्ति की सेवा-पूजा पद्धति को इसमें स्थान दिया। तदनंतर गोविन्द जी का मंदिर राजा मानसिंह ने बनवाया।

गोवर्धन में श्रीनाथ जी का मंदिर निर्माण

श्री वल्लभाचार्य अपनी दूसरी यात्रा के समय जब ब्रजभूमि में आए तब उनके एक भक्त सेठ पूरनमल खत्री ने मंदिर निर्माण की योजना आचार्य जी के समक्ष प्रस्तुत की थी जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर मंदिर निर्माण की अनुमति दे दी थी। गोवर्धन में उस समय निवास योग्य न तो कोई भवन था और न पूजा करने योग्य कोई मंदिर। बियावान जंगल के रूप में गोवर्धन पर्वत के चारों ओर पेड़-पौधे फैले हुए थे, उन्हीं की छाया में लोग विश्राम करते थे। श्री वल्लभाचार्य जी भी जब गोवर्धन पहुंचे तो उनके रहने के लिए कोई उपयुक्त स्थान नहीं मिला। एक साधु जिसे वार्ता साहित्य में सद्दू पांडे कहा गया है, एक चबूतरा बनाकर रहता था। वल्लभाचार्य जी ने भी इसी चबूतरे पर विश्राम किया था। सद्दू पांडे गौ

पालन का काम करता था और गिरिराज पर्वत की कंदरा में लीन भगवत् स्वरूप की बात करता था किंतु उस विग्रह का प्राकट्य तब तक नहीं हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि वल्लभाचार्य से पहले उस भगवद् विग्रह की जानकारी होते हुए भी विधिवत् सेवा-पूजा नहीं होती थी। सुलतानी शासन के आतंक से ब्रजवासी प्रकट रूप में उस स्वरूप की आरती भी नहीं करते थे। श्री वल्लभाचार्य ने कंदरा में से देवविग्रह को बाहर निकाल कर उसकी पूजा की और उसे गोवर्धन नाथ या श्रीनाथ नाम से प्रसिद्ध किया। ब्रजवासियों के मन में सुलतान के क्रूर शासन का जो आतंक था उसे भी आचार्य जी ने कृष्णाश्रय मंत्र देकर दूर किया। श्रीकृष्ण की बाल-किशोर पूजा का प्रारंभ यहीं से हुआ। मूर्ति की स्थापना के लिए कोई उपयुक्त स्थान तक नहीं बना था अतः उन्होंने गिरिराज की पहाड़ी पर एक कच्चा भवन बनवा कर उसी में मूर्ति को प्रतिष्ठित कर दिया। यह भवन कुछ काल में मंदिर की तरह पूजनीय बन गया और उनके शिष्य-सेवकों ने इसमें सेवा-पूजा की विधि से उपासना-प्रार्थना आदि शुरू कर दी। इसी बीच अंबाला निवासी सेठ पूरनमल खत्री ने मंदिर निर्माण की इच्छा व्यक्त की और मंदिर का सारा व्यय भी उठाने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। मंदिर का मानचित्र (नक्शा) आगरा के सुप्रसिद्ध शिल्पी हीरामन ने तैयार किया और हिन्दू स्थापत्य के अनुरूप शिखरदार मंदिर बनाया गया।

इस मंदिर के देव-विग्रह श्रीनाथ जी के विषय में वार्ता साहित्य में कई प्रसंगों का उल्लेख है। यह कहा जाता है कि मुगलों के आक्रमण और आतंक के कारण श्रीनाथ के विग्रह को कुंभनदास आदि ब्रजवासी टोड़काघना में तथा गांठोलीवन में ले गए थे। उनका उद्देश्य विग्रह को मुगलों के प्रहार से छिपाना ही था। जंगल में सेवा-पूजा में कठिनाई आने पर भी इन भक्तों ने अपने शारीरिक कष्टों की तनिक भी परवाह नहीं की और श्रीनाथ जी के विग्रह को तब तक सुरक्षित बनाए रखा जब तक सुंदर एवं सुरुचिपूर्ण भव्य भवन का निर्माण नहीं हो गया। इस मंदिर के पूरे निर्माण में लगभग बीस वर्ष का समय लगा किंतु अधूरे भवन में ही श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा प्रारंभ हो गई थी। संवत् 1576 वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) को श्री आचार्य जी ने धूमधाम से श्रीनाथ जी का पाटोत्सव संपन्न किया। आज अक्षय तृतीया का उत्सव गोवर्धन में बड़े समारोहपूर्वक मनाया जाता है, यह उत्सव श्रीनाथ जी के मंदिर में विधिवत् प्रतिष्ठा (पाटोत्सव) का ही सूचक है। मंदिर निर्माण में लंबी बीस वर्ष की अवधि के कई कारण वार्ता साहित्य में मिलते हैं। धनाभाव भी एक कारण बताया जाता है किंतु वास्तविक कारण तो सुलतान का भय ही था। उसकी संवत् 1574 में मृत्यु हो गई। उसके मरने के बाद दो वर्ष के भीतर मंदिर बनकर तैयार हो गया और पाटोत्सव भी संपन्न हो सका।

गृहस्थाश्रम और घर-परिवार

जैसाकि पहले लिखा जा चुका है कि अपनी दूसरी यात्रा समाप्त करने के बाद वल्लभाचार्य जी अपनी माता जी के साथ काशी वापस आ गए थे और माता जी की आज्ञा से उन्होंने काशी के प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान् देवभट्ट की कन्या से विवाह किया था किंतु विवाह के समय नववधू की आयु केवल आठ वर्ष की थी, अतः वल्लभाचार्य ने विवाह हो जाने पर भी वास्तविक रूप से गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया वरन् वे तीसरी यात्रा के लिए सुदूर दक्षिण तथा ब्रज प्रदेश में चले गए। इस यात्रा में उन्होंने पूरे आठ वर्ष का समय लगाया। आठ वर्ष बाद जब यात्रा से लौटे तो उनकी पत्नी अक्का जी षोडशी युवती हो गई थीं। काशी आने पर सर्वप्रथम वल्लभाचार्य ने भागवत पारायण सप्ताह का आयोजन किया। इस आयोजन में काशी के अनेक पंडितों ने भाग लिया किंतु कुछ पंडित ईर्ष्यावश इसमें शामिल नहीं हुए और वल्लभाचार्य के भागवत पाठ को विधि-विधान के विरुद्ध ठहराने का प्रयास करने लगे। वल्लभाचार्य ने पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रित किया किंतु किसी पंडित का साहस उनसे शास्त्रार्थ करने का नहीं हुआ। फलतः उनका भागवत पारायण सप्ताह निर्विघ्न समाप्त हुआ।

गृहस्थाश्रम में विधिवत् प्रवेश करने के बाद संवत् 1568 की आश्विन कृष्ण द्वादशी को अड़ैल नामक स्थान में उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का जन्म हुआ। अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध आचार्य जी ने स्वयं किया। गोपीनाथ जी स्वभाव से शांत प्रकृति के थे। भगवद् भक्ति में लीन रहकर जीवनयापन करने में उन्हें सुख-संतोष प्राप्त होता था। सांसारिक कृत्यों में उनकी अपेक्षाकृत कम रुचि थी। अतः प्रायः तीर्थाटन के लिए जगदीशपुरी, द्वारका आदि चले जाते थे। जगन्नाथ जी का इष्ट होने से जगदीशपुरी की यात्रा पर प्रायः निकल जाते थे।

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में प्रयाग में संगम तट के समीप अड़ैल नामक स्थान को अपना निवास स्थान बना लिया था। वहीं उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ रहते थे। दूसरा स्थान काशी के समीप चुनार (चरणाट) था। वहां उनके द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ जी अपनी माता के साथ निवास करते थे। गोवर्धन के श्रीनाथ जी के मंदिर की प्रबंध व्यवस्था कृष्णदास अधिकारी के पास थी और सेवा-पूजा का दायित्व बंगाली वैष्णव पुजारियों के पास था। कृष्णदास अधिकारी और बंगाली वैष्णवों में कुछ मन-मुटाव हो गया था। कृष्णदास नहीं चाहते थे कि बंगाली पुजारी श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा-पूजा का काम करें। उनका आरोप था कि बंगालियों को पुष्टिमार्गीय सेवा-पूजा की विधि नहीं आती अतः मंदिर में भक्तगण संतुष्ट होकर नहीं लौटते। कुछ और भी पूजा संबंधी आरोप थे अतः कृष्णदास उन्हें सेवानिवृत्त करना चाहते थे। इस झंझट के कारण गोपीनाथ जी और विट्ठलनाथ जी को गोवर्धन आना पड़ा। सारी परिस्थिति को समझ

लेने के बाद भी गोपीनाथ जी बंगालियों को पृथक् नहीं करना चाहते थे क्योंकि उनकी नियुक्ति उनके पिता श्री वल्लभाचार्य ने की थी। श्रीवल्लभाचार्य के परलोकवास के बाद यह विवाद और बढ़ा और अंत में कृष्णदास अधिकारी की बात ही स्वीकृत हुई।

श्री वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का जन्म संवत् 1572 वि० पौष कृष्णा नवमी को काशी के निकटवर्ती चरणाट (चुनार) नामक स्थान में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। वे अत्यंत मेधावी, प्रतिभाशाली, कुशाग्र बुद्धि थे। शैशव में ही उन्होंने वेद-वेदांग का अध्ययन कर दर्शन और साहित्य में भी प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। साहित्य-व्याकरणादि का अध्ययन करने के बाद उन्होंने सांप्रदायिक ग्रंथों का विधिवत् अनुशीलन किया। वास्तव में श्री वल्लभाचार्य के सांप्रदायिक सिद्धांतों, दार्शनिक मंतव्यों और कर्मकांड विषयक भक्तिमार्गीय सेवा-पूजा के विधानों को व्यापक आयाम पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय विट्ठलनाथ जी को ही है। विट्ठलनाथ जी ने अपनी आयु का प्रथम चरण अर्थात् 28 वर्ष का समय तो काशी के निकट ही व्यतीत किया किंतु बीच-बीच में ब्रज प्रदेश में आते रहे। अपने ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथ जी की मृत्यु के बाद संवत् 1600 वि० में विट्ठलनाथ जी ब्रज में आ गए और श्रीनाथ जी के मंदिर की व्यवस्था में हाथ बंटाने लगे। उनके ज्येष्ठ भ्राता ने तो सेवा-पूजा में कोई परिवर्तन नहीं किया था किंतु विट्ठलनाथ और कृष्णदास अधिकारी ने मिलकर श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा में आमूल परिवर्तन किया। संप्रदाय को वैभव संपन्न और यश-सम्मान संपन्न बनाने के लिए उन्होंने देशाटन का कार्यक्रम बनाया। वे अडैल गए, वहां की सारी व्यवस्था को ठीक किया। शिष्य-सेवकों को वहां का दायित्व सौंप कर गुजरात की यात्रा पर निकल पड़े। इस यात्रा में उन्होंने पुष्टि मार्ग का सैद्धांतिक स्तर पर जमकर प्रचार किया। शिष्ट मंडली तैयार की। अपार धन-संपत्ति श्रीनाथ जी के लिए एकत्र की और यशस्वी अवतारी पुरुष की भांति लौटकर ब्रज में आए। गुजरात की यात्रा से संप्रदाय को दो लाभ हुए। पहला लाभ तो सांप्रदायिक सिद्धांतों का व्यापक प्रचार हुआ और पुष्टिमार्ग उत्तर भारत से पश्चिम भारत तक फैल गया। दूसरा लाभ यह हुआ कि विट्ठलनाथ जी की शिष्य परंपरा का विस्तार हुआ और उनके द्वारा श्रीनाथ जी के लिए विपुल धन-संपत्ति प्राप्त हो सकी। इस संपत्ति से मंदिर की नवीन व्यवस्था में बहुत सहयोग मिला।

संप्रदाय की गद्दी का विवाद

गो० विट्ठलनाथ जी के अग्रज गोपीनाथ जी का परलोकवास संवत् 1599 में उस समय हुआ जब वे जगदीशपुरी की यात्रा पर गए हुए थे। उनकी मृत्यु के

बाद उनके पुत्र पुरुषोत्तम को आचार्य की गद्दी पर बिठाने का विवादास्पद प्रसग संप्रदाय में और परिवार में उठ खड़ा हुआ। गोपीनाथ जी की पत्नी और कृष्णदास अधिकारी की इच्छा थी कि पुरुषोत्तम आचार्य की गद्दी पर बैठे। पुरुषोत्तम की आयु उस समय अठारह वर्ष की थी। वह श्रीनाथ जी के प्रबंध आदि के विषय में ठीक तरह जानकारी भी नहीं रखता था। चूंकि यह प्रश्न पारिवारिक विवाद का था अत: शिष्य-सेवक गण कुछ समय तक मौन रहे किंतु उनकी इच्छा थी कि आचार्य की गद्दी पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी बैठें क्योंकि उन्होंने अपनी योग्यता, कार्यकुशलता और सांप्रदायिक सिद्धांत ज्ञान से सबको प्रभावित कर दिया था। इस विवाद में कृष्णदास अधिकारी ने कलह बढ़ाने वाली भूमिका निबाही और एक ऐसा भी समय आया जब विट्ठलनाथ जी के लिए श्रीनाथ जी के कपाट भी बंद करा दिये। इस प्रपंच के पीछे कृष्णदास अधिकारी की बुद्धि ही काम कर रही थी किंतु भक्त जन में इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ रहा था। विट्ठलनाथ जी की प्रबंध पटुता, पांडित्य, सांप्रदायिक सिद्धांत ज्ञान और शिष्य मंडली पर व्यापक प्रभाव ने ऐसा वातावरण बना दिया था कि आचार्य गद्दी के लिए उनसे योग्य कोई दूसरा व्यक्ति परिवार में खड़ा नहीं हो सकता था। गद्दी के उत्तराधिकार का यह विवाद परिवार में चल ही रहा था कि पुरुषोत्तम जी की गोवर्धन में असमय में आकस्मिक रूप से मृत्यु हो गई और गृह-कलह का यह दुखद प्रसंग स्वयं समाप्त हो गया। विट्ठलनाथ जी को सर्वसम्मति से आचार्य की गद्दी के लिए स्वीकार कर लिया गया।

वार्ता साहित्य में यह प्रसंग कृष्णदास की वार्ता के अंतर्गत वर्णित है। उसमें यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि कृष्णदास ने जिन बंगाली पुजारियों से श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा का अधिकार छीना था उन्होंने अकबर के दरबार में अपने पक्ष में गुहार की थी। राजा टोडरमल और बीरबल ने इस विवाद को सुलझाने में सहायता की थी।

श्रीनाथ जी की गद्दी पर विट्ठलनाथ जी के बठने के बाद सेवा-पूजा पद्धति में तो विराट परिवर्तन आया, साथ ही मंदिर की प्रबंध व्यवस्था भी सुधर गई। गोपीनाथ जी के समय श्रीनाथ जी के मंदिर में बंगाली पुजारियों ने काली पूजा का भी प्रचलन कर रखा था जो असंगत था किंतु गोपीनाथ जी उसे रोक नहीं सके थे क्योंकि वे प्राय: बाहर ही यात्रा पर रहते थे। उनकी निष्ठा भी जगन्नाथ में अधिक हो गई थी और वे श्रीनाथ जी की पूजा-सेवा पर ध्यान नहीं दे पाते थे। गोपीनाथ जी के समय से ही कृष्णदास अधिकारी का वर्चस्व बढ़ने लगा था। वह मंदिर के प्रबंध में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता था। जब विट्ठलनाथ जी ने इस विषय में छानबीन की तो उन्हें मंदिर के सेवकों ने बताया कि कृष्णदास अधिकारी गंगाबाई नाम की एक धनाढ्य महिला को श्रीनाथ जी के भोग के

समय भी हटाता नहीं है। इस महिला के संबंध में कुछ प्रवाद भी फैलने लगे थे, अत: विट्ठलनाथ जी ने कृष्णदास अधिकारी को बुलाकर सारी स्थिति से अवगत कराया और गंगाबाई का मंदिर में प्रवेश निषिद्ध कर दिया। यह एक ऐसी घटना थी जो कृष्णदास के अधिकार को चुनौती देने वाली होने के साथ मंदिर के सेवकों में भी उसकी प्रतिष्ठा पर आंच आने वाली थी। कृष्णदास ने अपने अहंकार और अभिमान में आकर विट्ठलनाथ के मंदिर प्रवेश पर पाबंदी लगा दी। इस प्रकार गृहकलह के साथ गद्दी के अधिकार का प्रश्न जुड़ गया।

श्री विट्ठलनाथ जी ने कृष्णदास अधिकारी द्वारा मंदिर प्रवेश की निषेधाज्ञा को चुपचाप स्वीकार कर लिया और वे गोवर्धन से कुछ दूर परासोली गांव के निकट चंद्रसरोवर पर रहने लगे। श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित होने के कारण उनका मन उदास रहता था। उन दिनों वे कुछ श्लोक बनाकर मंदिर में भेजते रहते थे। उन श्लोकों को संप्रदाय में विज्ञप्ति के नाम से जाना जाता है। इन श्लोकों में अपने दैन्य और कार्पण्य के साथ भगवान् से विनयपूर्वक अज्ञात अपराध के लिए क्षमा याचना का भाव रहता था। विट्ठलनाथ जी ने यह समय पूर्ण धैर्य और शांति के साथ व्यतीत किया। उन्होंने क्षमाशीलता का भी अच्छा परिचय दिया। ऐसी प्रसिद्धि है कि विट्ठलनाथ जी के पुत्र गिरिधर ने मथुरा के हाकिम द्वारा कृष्णदास अधिकारी को कारावास की सजा करा दी थी किंतु विट्ठलनाथ जी ने अपनी ओर से क्षमा प्रदान करते हुए उसे कारावास से मुक्त कराया। इस प्रकरण से कृष्णदास पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और उसने विट्ठलनाथ जी से क्षमा मांग कर इस दुखद प्रसंग को समाप्त किया। यह प्रसंग संप्रदाय के इतिहास में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। पारिवारिक कलह, गद्दी का अधिकार, कृष्णदास की भूमिका, विट्ठलनाथ जी की उदारता आदि सब बातें इस प्रसंग से जुड़ी हैं। वार्ता साहित्य में इसे बहुत विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

श्री विट्ठलनाथ जी का आचार्यत्व

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने जीवन काल में अपने प्रमुख शिष्य दामोदर दास हरसानी को पुष्टिमार्गीय भक्ति तत्त्व की शिक्षा-दीक्षा देकर सेवा-पूजा की विधि में पारंगत बनाया था किंतु उसी समय अपने द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ जी को भी दार्शनिक मंतव्यों से परिचित करा दिया था। सेवा-पूजा और लीला भावना का व्यावहारिक ज्ञान उन्होंने अपने पिता के प्रमुख शिष्य हरसानी और अच्युतदास से प्राप्त किया। श्री विट्ठलनाथ जी ने संवत् 1607 वि० में विधिपूर्वक आचार्य पद ग्रहण किया और संप्रदाय की सर्वांगीण उन्नति की योजना बनाने में तत्पर हो गए। श्रद्धालु भक्त जन को वल्लभ संप्रदाय की ओर आकृष्ट करने के लिए सर्वप्रथम उन्होंने पुष्टिमार्गीय सेवा-पूजा विधि को व्यापक स्तर पर लोकप्रिय, रंजक एवं

कर्मकांडपूर्ण बनाया। श्रीनाथ जी के मंदिर में शृंगार, भोग और राग का जो विस्तार आज लक्षित होता है इसका श्रेय विट्ठलनाथ जी को ही है। राग के अंतर्गत कीर्तन, पदगायन, भजन आदि को प्रमुख रूप से स्थान मिला। अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवि सूरदास आदि कीर्तन के लिए नियुक्त थे और प्रतिदिन अष्टयाम सेवा-पूजा के लिए नूतन पद रचना द्वारा कीर्तन करते थे।

संप्रदाय की आचार्य गद्दी पर बैठने के बाद विट्ठलनाथ जी ने अपना स्थायी निवास स्थान ब्रजभूमि को बनाना चाहा और तदनुसार अड़ैल को छोड़कर ब्रजभूमि की तरफ चल पड़े। मार्ग में कुछ समय तक रानी दुर्गावती के अनुरोध पर गढ़ा (म० प्र०) में रहे। रामचंद्र बघेला के आग्रह पर उनके यहाँ भी कुछ दिन टिके रहे। बघेला के यहां सुप्रसिद्ध संगीत-मर्मज्ञ तानसेन भी किसी समय रहे थे। विट्ठलनाथ जी की पहली पत्नी का परलोक तभी हो चुका था जब वे अड़ैल में थे। रानी दुर्गावती के विशेष आग्रह और परामर्श पर उन्होंने दूसरा विवाह करना स्वीकार किया। यह द्वितीय विवाह तैलंग भट्ट की सुपुत्री पद्मावती के साथ संवत् 1620 वि० की वैशाख शुक्ल तृतीया को संपन्न हुआ था।

श्री विट्ठलनाथ जी स्थायी रूप से ब्रज निवास के लिए अड़ैल से चले थे। संवत् 1623 में मथुरा आए थे। उनके निवास के लिए रानी दुर्गावती ने सात घर बनवाये थे जिन्हें सतघरा नाम से जाना जाता है। विट्ठलनाथ जी के छह पुत्र और वे स्वयं इन सातों घरों में रहते थे। इन्हीं दिनों विट्ठलनाथ जी ने पुन: गुजरात यात्रा का कार्यक्रम बनाया और यात्रा के लिए गुजरात चले गए। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर ने गोवर्धन में विराजमान श्रीनाथ जी के विग्रह को सेवा-पूजा के निमित्त मथुरा लाने का निश्चय किया और सतघरा-भवन में उन्हें प्रतिष्ठित किया। लगभग तीन मास तक श्रीनाथ जी की मूर्ति मथुरा में रही। बाद में पुन: उसे गोवर्धन के मंदिर में पधराया गया।

गुजरात की यह यात्रा श्री विट्ठलनाथ जी की उज्ज्वल कीर्ति में चार चांद लगाने वाली सिद्ध हुई। वल्लभ संप्रदाय के संबंध में तो सम्राट अकबर ने पहले से ही सुन रखा था और उसका प्रभाव जजिया कर आदि को हटाना था। अकबर पहले शासकों की अपेक्षा उदारवादी था। धार्मिक असहिष्णुता उसे पसंद नहीं थी। उसने सर्वधर्म-समभाव की दृष्टि से अनेक अच्छे काम किए थे। हिन्दुओं के मन में समाया हुआ आतंक समाप्त हो गया था। हिन्दू अपने मंदिरों, देव-स्थानों और तीर्थों में पूजा-पाठ करने लगे थे। ऐसे भयरहित शांतिपूर्ण वातावरण बनाने में सम्राट् अकबर का सर्वाधिक योग था। अकबर ने जब यह सुना कि गोस्वामी विट्ठलनाथ स्थायी रूप से ब्रजभूमि में निवास करने आ गए हैं तब उसने अपने राज्य के अधिकारियों द्वारा ब्रजभूमि की सुरक्षा के लिए किए गए कार्यों की सूचना विट्ठलनाथ जी के पास भेजी। इस सूचना से भी ब्रजवासी आश्वस्त हुए

और मथुरा का वातावरण शांतिमय हो गया।

श्री विट्ठलनाथ जी ने सतघरा (मथुरा) में अपने परिवार के रहने की पूरी व्यवस्था कर दी थी किंतु वे शहर के कोलाहल से दूर किसी शांत स्थान में रहना चाहते थे। यमुना नदी के दूसरे तट पर गोकुल नाम का गांव था जिसे वल्लभाचार्य जी ने रहने योग्य बनाकर संप्रदाय का पूजनीय तीर्थ स्थान बना दिया था। इसी गोकुल गांव को विट्ठलनाथ जी ने अपने स्थायी आवास के लिए चुना और संवत् 1627 वि० में उन्होंने गोकुल में रहने की व्यवस्था कर ली। वहां निवास-योग्य हवेली, श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा के लिए सुंदर मंदिर और शिष्य-सेवकों के लिए मकान का निर्माण कराया। विट्ठलनाथ जी के गोकुल आकर सपरिवार बसने पर गोकुल गांव ने एक आवासीय बस्ती का रूप धारण कर लिया था। ब्रजमंडल में इस समय तक पूजास्थलों के निर्माण में बहुत सावधानी बरती जाती थी। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि कोई मंदिर बाहर से देखने से ही मंदिर प्रतीत न हो। इसीलिए मंदिरों को भी वल्लभ संप्रदाय में हवेली कहने की प्रथा रही है। विट्ठलनाथ जी ने मंदिर निर्माण का जो कार्य प्रारंभ किया था वह गोकुल के बाद गोवर्धन और उसके समीप स्थानों में भी हुआ। मंदिरों के निर्माण से ब्रजभूमि का माहात्म्य निरंतर बढ़ता गया।

श्री विट्ठलनाथ जी के व्यक्तित्व और पांडित्य से प्रभावित होकर सम्राट् अकबर ने उन्हें राजकीय सम्मान प्रदान किया था और कई सुविधाएं देने वाले पट्टे-परवाने तथा फरमान जारी किए थे। एक फरमान में तो स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ निर्भय होकर गोकुल में निवास कर सकते हैं। उन्हें गोस्वामी पद के न्याय करने के अधिकार भी प्रदान किए थे। गौवध पर भी निषेध लगाया गया था और गौरक्षा की व्यवस्था की गयी थी। अकबर ने अपनी राजधानी फतहपुर सीकरी में एक ऐसा उपासना स्थान बनवाया था जहां सभी धर्मों के लोग उपासना कर सकते थे। इसी उपासना-घर में उसने अष्टछाप के कीर्तनिया कवि कुंभनदास को पद गायन के लिए आमंत्रित किया था। कुंभनदास को सीकरी जाना तो पड़ा लेकिन वे स्वेच्छा से नहीं सम्राट् की आज्ञा से वहां गए और जो पद उन्होने अकबर की उपस्थिति में गाया वह एक साधुभक्त की गरिमा के सर्वथा अनुकूल है। उन्होंने गाया—"संतन को कहा सीकरी सौं काम, आवत-जात पन्हैंया टूटीं, बिसरि गयौ हरिनाम।" यह पद संत कुंभनदास की अंत-र्व्यथा की ही प्रतिध्वनि है।

सम्राट् अकबर ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सर्वकल्याणकारी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वे सब राजकीय सम्मान और सुविधाएं भी दी थीं जो विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों को ही प्राप्त होती थीं। उनमें घुड़सवारी, खिलअत, इत्रफुलैल का प्रयोग, दमामा.नगाड़ा आदि वाद्य यंत्रों का मंदिर में प्रयोग शामिल था। अकबर

के अन्य कई दरबारी लोग भी गुसाईं जी के प्रति श्रद्धाभाव रखते थे और उनके दर्शन के लिए यदा-कदा ब्रजभूमि में आया करते थे। राजा मानसिंह ने उसी समय में वृंदावन में विशाल गोविंद जी का मंदिर बनवाया था। राजा टोडरमल और बीरबल भी इनके भक्तों में बताए जाते हैं।

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने भी अपने पिता की भांति यात्राओं का कार्यक्रम बनाया था। 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' में इनकी यात्राओं का उल्लेख उपलब्ध हैं। संवत् 1600 से संवत् 1638 तक छह बार इन्होंने देशाटन किया और अड़ैल से लेकर गोकुल निवास तक इन यात्राओं का क्रम जारी रहा। इन यात्राओं से सांप्रदायिक स्तर पर वल्लभ संप्रदाय का प्रचार हुआ और उसे व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई। वास्तव में वल्लभ संप्रदाय के प्रचार-प्रसार में सर्वाधिक योगदान श्री विट्ठलनाथ जी का ही है।

गोस्वामी जी ने ब्रज की यात्रा या चौरासी कोस की परिक्रमा की परिपाटी डाली जो आज तक ब्रजमंडल में चली आ रही है। यह यात्रा पवित्र तीर्थ यात्रा के रूप में संपन्न होती है और वल्लभ संप्रदाय के आचार्य इसका संचालन करते हैं। विट्ठलनाथ जी के समय में यह यात्रा ग्यारह दिवसीय परिक्रमा-यात्रा थी किंतु आजकल लगभग एक मास में यह यात्रा संपन्न होती है। यात्रियों को सब प्रकार की सुविधा प्रदान की जाती है।

वल्लभ संप्रदाय के इतिहास में जिन विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख है उनमें श्री वल्लभाचार्य के बाद उनके द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ का नाम सर्वोपरि है। जिस पुष्टिमार्ग की स्थापना वल्लभाचार्य जी ने की थी उसे शास्त्र सम्मत, कर्मकांड सम्मत और विधि-विधान सम्मत बनाने का श्रेय विट्ठलनाथ जी को ही है। वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धांत और साहित्य को भी इन्हीं ने सर्वजन सुलभ बनाकर व्यापक आयाम प्रदान किया। तत्कालीन मुगल शासन में इन्हें जो ख्याति और यश प्राप्त हुआ वैसा किसी अन्य व्यक्ति को नहीं मिला था। हिन्दू जाति के धार्मिक तथा राजनीतिक हितों की रक्षा में भी इनका योगदान सर्वाधिक है। अष्टछाप की स्थापना और पुष्टिमार्गीय सेवा-पूजाविधि आदि में परिवर्तन के कारण इन्हें परवर्ती काल में सर्वोच्च पूज्य बुद्धि से देखा जाने लगा। वल्लभाचार्य जी के सभी कार्यों को पूर्णता पर पहुंचाने का श्रेय इन्हीं को है।

श्री वल्लभाचार्य जी के ग्रंथ

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने संप्रदाय के प्रचार के निमित्त तथा दार्शनिक मंतव्यों के स्पष्टीकरण के लिए इकत्तीस बड़े-छोटे ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों में ब्रह्मसूत्र पर 'अणुभाष्य' तथा 'वृहद्भाष्य' नाम से दो भाष्य लिखे। भागवत पुराण की 'सुबोधिनी टीका' इनके पुष्टिमार्ग को समझने में सर्वाधिक प्रामाणिक कृति है।

इस टीका में आचार्य जी ने श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का भी तात्विक दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण किया है। भागवत पर 'तत्वदीपनिबंध' भी इनकी एक प्रसिद्ध रचना है। आचार्य जी अपने दोनों प्रमुख ग्रंथों को पूर्ण नहीं कर सके थे। इनके शेष ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं : गायत्री भाष्य, पुरुषोत्तम सहस्रनाम, पूर्वमीमांसा भाष्य, पत्रावलंबन, षोडश ग्रंथ, शिक्षा श्लोक, विविध नामावली, दशमस्कंध अनुक्रमणिका, भगवत्पीठिका, न्यायादेश, सेवाफल विवरण, प्रेमामृत तथा विविध अष्टक। इन ग्रंथों के अतिरिक्त भी आचार्य जी ने बहुत कुछ लिखा था किंतु उनके देहावसान के बाद सारा साहित्य उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी के पास चला गया और गोपीनाथ जी के असामयिक निधन के बाद उनकी पत्नी समस्त साहित्य और चल संपत्ति को लेकर अपने पितृगृह दक्षिण देश चली गई। वहीं सारा साहित्य लुप्त हो गया। जो ग्रंथ गोवर्धन में बचे थे या जो उनके शिष्यों को कंठस्थ थे उन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने श्रमपूर्वक संकलित और संपादित कर सुरक्षित किया। आज आचार्य जी के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं वे सब गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा ही सुरक्षित रह सके हैं। आचार्य वल्लभ की कृतियों में मूर्धन्य स्थान पर भागवत पुराण की 'सुबोधिनी टीका' ही है। इसमें जितनी तल स्पर्शी व्याख्या मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। इस टीका के द्वारा केवल भागवत पुराण का मर्म ही नहीं, प्रत्युत श्री कृष्ण की लीलाओं का आध्यात्मिक अंतरंग रहस्य भी उद्घाटित होता है। आचार्य के ग्रंथों में 'षोडश ग्रंथ' नाम से जिन सोलह छोटी-छोटी रचनाओं का परिगणन होता है, वे विभिन्न प्रकार की कृतियां हैं। उनमें यमुनाष्टक, बाल-बोध, सिद्धांत-मुक्तावली, सिद्धांत रहस्य, पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद, संन्यास निर्णय, सेवाफल आदि का संप्रदाय में आज भी उपयोग होता है। आचार्य जी रचित 'अणु-भाष्य' जो दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध भाष्य माना जाता है आचार्य जी द्वारा चारों अध्यायों का नहीं है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय अध्याय का अर्धांश ही उन्होंने लिखा था। शेष अध्यायों का भाष्य उनके द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा लिखकर पूरा किया गया। आचार्य जी की रचनाओं में 'पत्रावलंबन' भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें मायावाद का खंडन और वेद-वेदांत की एक-वाक्यता का निरूपण है। आचार्य जी के समय तक ब्रजभाषा का गद्य पुष्ट नहीं हुआ था, हिन्दी (खड़ी बोली) का तो जन्म भी नहीं हुआ था। अतः उन्होंने अपने सभी ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे। संस्कृत उस समय विद्वन्मंडली की सामान्य भाषा थी।

श्री विट्ठलनाथ जी रचित ग्रंथ

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी संस्कृत भाषा के विद्वान् पंडित होने के साथ वल्लभ संप्रदाय के दार्शनिक, धार्मिक एवं सामाजिक पक्ष के मर्मज्ञ ज्ञाता थे। संप्रदाय का

प्रवर्तन और पल्लवन उनके जीवन-काल में हुआ था। उन्होंने अपने पूज्य पिता से सांप्रदायिक गूढ़ रहस्यों को समझा था, अतः ग्रंथ-प्रणयन के समय उनके अन्तर्नेत्रों के समक्ष सभी रहस्य खुले हुए थे। गोस्वामी रचित छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या तो पचास तक बताई जाती है किंतु जो ग्रंथ उपलब्ध हैं और प्रामाणिक रूप से गोस्वामी जी रचित हैं उनकी संख्या चौदह है। इन चौदह ग्रंथों में कुछ ऐसे हैं जो श्री वल्लभाचार्य जी के अपूर्ण ग्रंथों की पूर्ति के लिए लिखे गए हैं। कुछ उनके ग्रंथों की व्याख्या, टीका या स्पष्टीकरण के लिए लिखे गए हैं। उनके प्रसिद्ध ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—शृंगाररसमंडन, विद्वन्मंडन, भक्तिहंस, भक्तिहेतु, सर्वोत्तम स्तोत्र, स्वामिनी स्तोत्र, चतुःश्लोकी, दानलीला, विज्ञप्ति। इनके अतिरिक्त वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों की पूर्ति या भाष्य के निमित्त लिखे ग्रंथों के नाम हैं—अणुभाष्य का अंतिम डेढ़ अध्याय, निबंध प्रकाश पूर्ति-टीका, सुबोधिनी टिप्पणी, न्यायादेश विवृत्ति, षोडशग्रंथ विवृत्ति।

इन ग्रंथों में तीन ग्रंथ सांप्रदायिक तथा दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। 'शृंगाररसमंडन' यद्यपि इनकी प्रारंभिक कृति है किंतु इसमें जिन विषयों को प्रतिपादन के लिए गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है वे विवेचन की दृष्टि से अत्यंत प्रौढ़ एवं गंभीर हैं। पुष्टि मार्ग के रस पक्ष और लीला भाव का जैसा मार्मिक वर्णन इस ग्रंथ में है वैसा अन्य ग्रंथों में नहीं मिलता। 'विद्वन्मंडन' एक दार्शनिक ग्रंथ है जिसमें शंका-समाधान की शैली से शुद्धाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। ऐसी भी जनश्रुति है कि गोस्वामी जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते थे और गोस्वामी जी उसका खंडन करते हुए शास्त्रानुमोदित उत्तर पक्ष रखते हुए स्वमंतव्य की स्थापना करते थे। गोस्वामी जी ने अपने सभी ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे हैं। उनके समय में भी ब्रजभाषा गद्य का ग्रंथ-लेखन में प्रचलन नहीं हुआ था। वार्ता साहित्य उनके बाद प्रकाश में आया और ब्रजभाषा गद्य का थोड़ा-बहुत प्रयोग प्रारंभ हुआ।

श्री वल्लाभाचार्य जी की बैठकें

वल्लभ संप्रदाय में उन स्थानों को तीर्थ स्थान की भांति पूज्य माना जाता है जहां आचार्य जी अपनी यात्राओं के समय, प्रवास काल में ठहरने तथा प्रवचन करने योग्य समझते थे। उन्हें अब आचार्य जी की बैठक के नाम से पुकारा जाता है। इन बैठकों में आचार्य जी ने केवल विश्राम ही नहीं किया था वरन् भागवत का प्रवचन-पारायण आदि कार्य भी किए थे। आचार्य जी की बैठकों की संख्या 84 है जिनमें से 24 ब्रजमंडल में हैं। चौरासी कोस की जो यात्रा-परिक्रमा होती है उसमें ये 24 बैठकें आती हैं और भक्तजन इन्हें पूजनीय तीर्थस्थल के समान पूजते हैं। इन बैठकों के स्थान मथुरा, गोकुल, गोवर्धन, राधाकुंड, वृंदावन, कामवन,

वरसावा, नंदगांव, प्रेम सरोवर, मानसरोवर, चीरघाट, कामवन, करहला, मधुवन, कुमुदवन, कोकिलावन आदि स्थानों में हैं। अब इन स्थानों पर कहीं चबूतरा ही शेष है, कहीं कोठरी और कहीं-कहीं कमरे भी हैं। भक्त जन के लिए इन स्थानों का नाम ही पूज्य होता है और वे इसी पूज्य बुद्धि से इन्हें पूजते भी हैं।

श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता का अनुसरण करते हुए बैठक स्थापित करने की परंपरा कायम रखी। उनके नाम से भी 28 बैठकें प्रसिद्ध हैं। उनमें से 16 व्रजभूमि में हैं और 12 भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों में हैं। इन बैठकों में गोस्वामी ने भागवत का प्रवचन किया था या पुष्टिमार्ग का उपदेश देकर अपने भक्त जन को कृतार्थ किया था। व्रजभूमि की बैठकें गोकुल, वृंदावन, गोवर्धन, राधाकुंड, कामवन, वरसाना, करहला, कोटवन, रीठौरा, चीरघाट, वच्छवन और वैलवनयमुना तट पर है। इनमें से कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहां गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने ग्रंथों की रचना की थी, इसलिए भी इन बैठकों का महत्त्व बढ़ जाता है।

श्री वल्लभाचार्य का लीला-प्रवेश (देहावसान)

श्री वल्लभाचार्य अपने जीवन में गृहस्थाश्रम में ही रहे किंतु अंतिम समय उन्हें संन्यासाश्रम में जाने की इच्छा हुई। संन्यासाश्रम दो प्रकार का होता है। दंडी स्वामियों का संन्यासाश्रम शिखा-सूत्र त्याग कर गेरुआ वस्त्र धारण कर विरक्त के रूप में विचरण करने वाला, प्रवचन करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वाला होता है। दूसरे प्रकार के संन्यास में शिखा-सूत्र धारण करते हुए, परिवार से पृथक् रहते हुए एकांत स्थान में रहकर भक्ति में लीन रहते हुए संन्यास की व्यवस्था है। परम भागवत होने के कारण आचार्य वल्लभ ने इसी कोटि के संन्यास का वरण किया था। उन्होंने दंडी स्वामी होकर भगुआ वस्त्र धारण नहीं किए वरन् काषाय वस्त्रों के साथ आश्रम की व्यवस्थानुसार अपना नाम पूर्णानंद रखकर संन्यास ग्रहण किया। उनके हजारों शिष्य-सेवकों ने भी वल्लभाचार्य जी को संन्यासी श्री पूर्णानंद के रूप में देखकर आनंदविभोर होकर सुख प्राप्त किया। इस प्रकार के संन्यासाश्रम का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। और यह संन्यास केवल कर्म संन्यास का ही रूप है। संन्यास का यह रूप श्री वल्लभाचार्य के जीवन में सांसारिक बंधनों से मुक्ति का रूप ही कहा जा सकता है। उनका संन्यास पुष्टिमार्ग के अनुसार संसार के लौकिक कर्मों का त्याग मात्र था। इस प्रकार का संन्यास ग्रहण करने पर व्यक्ति को रागभोग से छूटकर शांति के साथ इहलोक की लीलाओं से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

श्री वल्लभाचार्य जी का देहावसान जिसे वल्लभसंप्रदाय की भाषा में लीला-प्रवेश कहा जाता है संवत् 1587 आषाढ़ शुक्ला तृतीया को मध्याह्न काल में

हुआ। महाप्रभु को यह आभास हो गया था कि उनका अंतिम समय आ गया है अतः वे अड़ेल से काशी चले गए थे और काशी में भी गंगा तट पर जाकर शांत भाव से बैठ गए थे। जब उन्हें प्रतीत हुआ कि अब प्राण-विसर्जन का समय आ गया है तब उन्होंने गंगा के मध्य में जाकर शांत मुद्रा में शरीर त्याग दिया। इस नश्वर शरीर के प्रति उनका मोह नहीं रह गया था। अतः शरीर छोड़ने में उन्हें किसी प्रकार का कष्ट का अनुभव नहीं हुआ। सांसारिक माया-मोह के बंधनों से तो वे पहले ही मुक्त हो चुके थे।

2

श्री वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धांत

श्री वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत को 'शुद्धाद्वैत' नाम से अभिहित किया जाता है। शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रारंभ कब और किसके द्वारा हुआ, यह विषय विवादास्पद है। अनुसंधानकर्ताओं ने इस दर्शन को विष्णुस्वामी नाम के विद्वान् की देन ठहराया है। विष्णुस्वामी को वल्लभाचार्य के पूर्वजों का गुरु मानकर वल्लभ संप्रदाय का दर्शन भी विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित कहा जाता है। विष्णुस्वामी नाम के तीन व्यक्तियों का ऐतिहासिक ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। वल्लभ संप्रदाय के ग्रंथों में ऐसा संकेत मिलता है कि विष्णुस्वामी संप्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर वल्लभाचार्य जी बैठे और उन्होंने विष्णुस्वामी संप्रदाय के सिद्धांतों के अनुसार अपने मत के दर्शन तथा भक्ति सिद्धांतों का निर्धारण किया। विष्णुस्वामी द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रामाणिक विवरण तो आज उपलब्ध नहीं है किंतु जो रूपरेखा वल्लभ संप्रदाय के 'संप्रदाय प्रदीप' शीर्षक ग्रंथ में मिलती है उसी के आधार पर भक्तिमार्ग के प्रवर्तक के रूप में विष्णुस्वामी की मान्यता है और उसमें जो दार्शनिक मंतव्य है वह 'शुद्धाद्वैत' दर्शन के मेल में है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने दार्शनिक मत को जिस रूप में प्रस्तुत किया वह **शुद्धाद्वैत, ब्रह्मवाद** या **अविकृत परिणामवाद** नाम से जाना जाता है। शुद्धाद्वैत में शुद्ध का तात्पर्य है माया के संबंध से रहित। माया के संबंध से रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण और कार्य है। माया शवलित ब्रह्म कारण और कार्य नहीं है। ब्रह्मवाद से तात्पर्य है, सब कुछ ब्रह्म ही है। जीव और जगत् भी ब्रह्म रूप हैं और दोनों सत्य हैं। जगत् ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है। जगत् और ब्रह्म में विकारहीनता की स्वीकृति ही अविकृत परिणामवाद है।

ब्रह्म का स्वरूप विवेचन करते हुए अपने 'तत्वदीप निबंध' शीर्षक ग्रंथ में आचार्य वल्लभ ने लिखा है कि ब्रह्म सत्, चित् और आनंद स्वरूप है। वह व्यापक है, मायारहित और सर्वशक्तिमान है। वह स्वतंत्र है, सर्वज्ञ है और गुणरहित है। ब्रह्म के अनंत अवयव है, सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी उसकी स्थिति है, उसके अनंत रूप हैं, वह अविभक्त और अनादि है और अपनी इच्छा मात्र से विभक्त होने वाला है। वह संपूर्ण जगत् का आधारभूत है। माया को अपने वश में रखने

वाला आनंद स्वरूप तथा संपूर्ण बाह्य प्रपंचों से पृथक् है। इस जगत् का वही समवाद और विभिन्न कारण है। वह अपने स्वरूप में और अपनी रचित लीला में नित्य मग्न रहता है। वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है। वही जगत का कर्ता है। उसके प्राकृत शरीर और गुण नहीं हैं। ब्रह्म में आविर्भाव तथा तिरोभाव की शक्ति है। इसी शक्ति से वह एक में अनेक और अनेक में एक होता रहता,है। शंकराचार्य के अद्वैत मत से वल्लभाचार्य के मत की भिन्नता है। शंकर के मत में एक ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या या कल्पना मात्र है। वल्लभाचार्य के मत में जीव और जगत् को ब्रह्म का अंग स्वीकार किया गया है, अतः सत्य ठहराया गया है। उनके मतानुसार जड़ जगत् और जीव सृष्टि ब्रह्म के अंश हैं। जड़ तत्व में चित् और आनंद दो धर्म तिरोभूत हैं, केवल सत् धर्म ही प्रकट है। जीव में सत् और चित् दो धर्म प्रकट हैं; आनंद धर्म तिरोभूत है। ब्रह्म अपने सत्, चित् और आनंद तीनों धर्मों के साथ अंतर्यामी रूप में सर्वव्यापक है। वल्लभ संप्रदाय में ब्रह्म की इच्छा-शक्ति ही ब्रह्म की माया है किंतु यह मिथ्या नहीं है। सच्चिदानंद ब्रह्म सत्य है और उसकी लीला भी नित्य है।

ब्रह्म के ये गुण भी स्वीकार किए गए हैं। ऐश्वर्य, वीर्य, यश श्री, ज्ञान और वैराग्य गुण ब्रह्म में रहते हैं किंतु ईश्वर की इच्छा से यह छह गुण जीव में तिरोहित हो जाते हैं। इन गुणों के अभाव में जीव को अन्यथा ज्ञान होने लगता है और वह दुःख का भागी बनता है। ईश्वर-भक्ति द्वारा जीव कृपा का अधिकारी होता है और ईश्वर कृपा से उसे ये छह गुण पुनः प्राप्त हो जाते हैं। वल्लभ संप्रदाय में ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं—

1. पूर्ण पुरुषोत्तम, रसरूप, परब्रह्म श्रीकृष्ण।
2. अक्षर ब्रह्म।
3. अंतर्यामी रूप ब्रह्म।

श्री वल्लभाचार्य जी विरचित ब्रह्मसूत्र का 'अणुभाष्य' दार्शनिक सिद्धांत का प्रमुख उपजीव्य ग्रंथ है। शुद्धाद्वैत सिद्धांत को समझने के लिए 'अणुभाष्य' को पढ़ना आवश्यक है। वल्लभाचार्य ने आविर्भाव और तिरोभाव शब्दों से अपने मत को स्पष्ट किया है। उनके मत में यह सृष्टि दो प्रकार की है, जीवात्मक तथा जड़ात्मक। इन्हीं दो तत्वों के सम्मिश्रण से सृष्टि उत्पन्न हुई है। हम जो कुछ देखते हैं वह चैतन्य, जड़ और प्रकृति—इन तीनों का सम्मिश्रण है, इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन तीनों के द्वारा संसार में अनेक दृश्य दिखाई देते हैं और लुप्त होते रहते हैं। वस्तुओं का दिखाई देना और लोप हो जाना, यही आविर्भाव और तिरोभाव है। कोई वस्तु वास्तव में नष्ट नहीं होती। ब्रह्मांड में जो परमाणु हैं उनका नाश नहीं होता। जिसे हम नाश कहते हैं वह रूपांतर मात्र है। वस्तुओं का एक रूप से दूसरे रूप में परिणत हो जाना, यही तिरोभाव और आविर्भाव है।

श्री वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य की भांति अपने सिद्धांत तत्व को आधे श्लोक में इस प्रकार कहा है—"ब्रह्म सत्यं, जगत् सत्यं, अंशो जीवोहि नापर:।" ब्रह्म सत्य है, जगत् सत्य है, जीव भगवान का अंश है, वह परब्रह्म नहीं है। परब्रह्म की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा है कि परब्रह्म एक है। यह कर्ता-अकर्ता, सूक्ष्म-स्थूल, कार्य-कारण सभी कुछ है। यह विरुद्ध धर्माश्रयी, अनंत शक्तिमान् विभु और प्रभु है। इसके मुख्य धर्म हैं—सत्, चित् और आनंद। इसीलिए इसे सच्चिदानंद कहते हैं। शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार परब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप को पुरुषोत्तम, आध्यात्मिक स्वरूप को अक्षर ब्रह्म और भौतिक स्वरूप को जगत् कहते हैं। जब परब्रह्म को बाह्य प्रकार से रमण करने की इच्छा होती है तब अपने आनंदधर्मी दिव्य आधिदैविक पुरुषोत्तम रूप से श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होकर अपनी शक्तियों के साथ बाह्य रमण करता है। परब्रह्म कृष्ण ही सत्, चित् और आनंद रूप में सर्वत्र व्याप्त है। वह समस्त दिव्य गुणों से युक्त है। अपनी आनंदमयी, नित्य और दिव्य लीलाओं का प्रकट ज्ञान कराने के लिए साक्षात् पुरुषोत्तम कृष्ण सारस्वत कल्प में ब्रज में अवतरित हुए थे। पुरुषोत्तम के आविर्भाव से उनका समस्त लीला परिकर और उनके लीला स्थल भी गोप-गोपियां, वृंदावन-गोवर्धन आदि के रूप में अवतीर्ण हुए थे। इस प्रकार समस्त ब्रज मंडल कृष्णमय हो गया था। भक्ति और उपासना के लिए आचार्य जी ने इस कृष्ण को ही सर्वोपरि माना है। कृष्ण से बढ़कर कोई भी दोषरहित देवता नहीं है। प्रकृति-जन्य सत, रज, तम गुणों के अभाव में परब्रह्म कृष्ण जिस प्रकार निर्गुण हैं, उसी प्रकार आनंद आदि दिव्य गुणों के होने से सगुण भी हैं। इसी तरह से निराकार होते हुए भी साकार हैं। वे अणु भी हैं और महान से भी महान हैं। इस प्रकार कृष्ण विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं।

श्री वल्लभाचार्य के मत में जीव का स्वरूप ब्रह्म का चिदंश है। अग्नि के स्फुलिंगों की भांति ब्रह्म से ही जीवों की उत्पत्ति होती है जिस प्रकार अग्नि और उसकी चिनगारी में कोई भेद नहीं उसी प्रकार ब्रह्म और जीव का स्वरूपगत अभेदत्व है। जीव भी उतना ही सत्य है जितना स्वयं ब्रह्म सत्य है। ब्रह्म अंशी है और जीव उसका अंशमात्र है। जीव की शक्ति अपनी सत्ता के अनुसार सीमित है और ब्रह्म की शक्तियांअसीम हैं, अनंत हैं। शुद्धाद्वैत सिद्धांत में जीव की तीन अवस्थाएं होती हैं—शुद्धजीव, संसारी जीव और मुक्त जीव। आचार्य जी का मत है कि तीनों दशाओं में जीव का कर्तव्य है कि वह भगवद् भजन करे। जीव को अणु सिद्ध करने के कारण उनका भाष्य भी 'अणु भाष्य' कहलाता है।

जगत् के विषय में श्री वल्लभाचार्य का मत शंकराचार्य से नितांत भिन्न है। जगत् परब्रह्म का भौतिक स्वरूप है। भगवान् कृष्ण अपने अट्ठाईस तत्व रूप से जगत् स्वरूप होते हैं। इस कारण जगत् भी ब्रह्म के समान ही सत् है। जगत्

न तो असत् है और न मिथ्या। लोकाचार में जगत् और संसार शब्द समानार्थक पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं किंतु शुद्धाद्वैत मत में इन दोनों में बहुत अंतर है। जगत् ब्रह्म रूप होने के कारण सत्य है किंतु संसार मायाग्रस्त जीव के अज्ञान से स्वीकृत मैं और मेरेपन की कल्पना मात्र है इसलिए असत्य है। जगत् और संसार का यह भेद शुद्धाद्वैत सिद्धांत की मौलिक विशेषता है।

माया के विषय में शुद्धाद्वैत मत में यह स्वीकार किया जाता है कि माया परब्रह्म की स्वरूपा शक्ति है। वह परब्रह्म से सदा वेष्टित रहती है। माया परब्रह्म के अधीन है, परब्रह्म उसके आधीन अथवा आश्रित नहीं है। इसलिए ब्रह्म के सत्य स्वरूप को माया कभी आच्छादित नहीं कर सकती। माया विषयक विचार भी अन्य आचार्यों से पृथक् है। 'सुबोधिनी टीका' में आचार्य जी ने माया के दो रूप माने हैं, व्यामोहिका माया और करुण माया। माया की शक्ति या प्रकाश जगत् के आविर्भाव काल में होता है। संक्षेप में, श्री वल्लभाचार्य के दार्शनिक विचारों में हम मौलिकता लक्षित करते हुए यह कह सकते हैं कि आचार्य जी ने अपने चिंतन को किसी परिपाटीबद्ध लकीर पर नहीं चलाया वरन् अपने सिद्धांत की आधार-शिला स्वकीय दर्शन पर केंद्रित कर स्थापित की।

पुष्टिमार्ग

श्री वल्लभाचार्य जी ने शुद्धाद्वैतवाद जैसे दार्शनिक मत का प्रतिपादन करने के बाद उसे व्यावहारिक रूप से लोक-प्रचलित करने के लिए पुष्टिमार्ग नाम से भक्ति मार्ग का प्रवर्तन किया था। 'सुबोधिनी टीका' में लिखा है कि आंतरिक प्रेरणा से उन्होंने पुष्टिमार्ग की स्थापना की। पुष्टिमार्ग शब्द का बोध आचार्य जी को भागवत पुराण से प्राप्त हुआ था। जब तक भगवान् का अनुग्रह नहीं होता तब तक भक्त के हृदय में सच्ची भक्ति का उदय नहीं होता। अतः भगवत् कृपा ही भक्ति भाव की जननी है। पुष्टि शब्द का अर्थ है पोषण, पोषण का अर्थ है अनुग्रह, अनुग्रह को ही भगवत् कृपा कहते हैं। सामान्यतः वैधी भक्ति जिसे मर्यादा भक्ति भी कहते हैं शास्त्रानुमोदित विधि-विधान के साथ संपन्न होती है। नवधा भक्ति भी उसी का एक रूप है किंतु वह वेद-शास्त्र का अनुसरण न करके अपनी नौ प्रकार की मर्यादाओं में सीमित रहती है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के संबंध में वल्लभ संप्रदाय के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार श्री हरिराय ने पुष्टिमार्ग का विवेचन और लक्षण प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण के स्वरूप प्राप्ति के साधन हैं अथवा जहां जो फल है वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। जिस मार्ग में सब सिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहां देह के अनेक संबंध ही साधन बन कर भगवान की इच्छा के बल पर फल रूप संबंध बनते हैं,

जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है, और उन भावों के सहित देहादि का भगवान को पूर्ण समर्पण है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पुष्टिमार्ग पर प्रकाश डालते हुए अपने 'सूरदास' शीर्षक ग्रंथ में लिखा है—"पुष्टिमार्ग में आने के लिए यह आवश्यक है कि लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर होकर उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे, जो लोक का अनुकरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के संपादन द्वारा की गई है। यह तभी हो सकता है जब साधक अपने को भगवान के चरणों में समर्पित कर दे। इसी समर्पण से इस मार्ग का आरंभ होता है। और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अंत। बीच का मार्ग सेवा द्वारा प्राप्त होता है जिससे अहंता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है।" पुष्टि मार्ग में समर्पण (आत्मनिवेदन) अर्थात् ब्रह्म संबंध को बड़ा महत्व दिया गया है। समर्पण पुष्टिमार्गीय दीक्षा है जिसे प्राप्त करने पर साधक को विशेष प्रकार के रहन-सहन, दिनचर्या और आचार-विचार का पालन करना होता है। पुष्टि-मार्गीय दीक्षा अर्थात् ब्रह्म संबंध प्राप्त करने के लिए साधक को अपने गुरु से चौरासी अक्षरों का दीक्षा मंत्र ग्रहण करना होता है। इस गद्य-मंत्र को संक्षिप्त रूप में अष्टाक्षर मंत्र के रूप में ग्रहण करने की प्रथा है—'श्रीकृष्णः शरणं मम।' सामान्य दीक्षा के लिए पंचाक्षर मंत्र 'कृष्ण त्वास्मि' भी प्रचलित है। पुष्टिमार्ग में प्रविष्ट में होने के लिए मुख्यतः चौरासी अक्षरों का मंत्र ही मुख्य है। अष्टाक्षर तथा पंचाक्षर मंत्र भी अब पुष्टिमार्ग में दीक्षा मंत्र के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अष्टाक्षर मंत्र को नाम मंत्र भी कहते हैं। इस मंत्र का बीजभाव 'गीता' में मिलता है। पुष्टिमार्ग में भगवान् के चरणों में सर्व त्याग के बाद उपस्थित होना ही ग्राह्य है। 'सर्वधर्मानपरित्यज्य या मैकं शरणं व्रज' का उपदेश पुष्टिमार्ग को पुष्ट करने वाला है।

पुष्टिमार्गीय सेवा में नित्योत्सव और वर्षोत्सव सेवा का विधान है। इन दोनों सेवाओं में शृंगार, भोग और राग का स्थान है। ये तीनों क्रियाएं सांसारिक व्यसन भी हैं। इनके उदात्तीकरण के लिए आचार्य जी ने इन्हें भगवद् सेवा में समाविष्ट करके एक नया प्रयोग किया है। इन सेवाओं के विकृत रूप से छुटकारा पाने के लिए साधक को इन तीनों सेवाओं का उदात्त रूप स्वीकार करना चाहिए। यह सेवा की एक नूतन विधि थी जिसका प्रचलन उन्होंने अपने संप्रदाय में किया था। इस सेवा पद्धति का विस्तार उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में हुआ।

पुष्टिमार्गीय भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। इसी कारण इस भक्ति को प्रेम लक्षणाभक्ति भी कहें तो श्रीकृष्ण भक्ति के सभी संप्रदायों के धुर्य भाव की

भक्ति के मूल में प्रेम ही प्रधान तत्व है। वल्लभ संप्रदाय के अनुसार प्रभु अनुग्रह के सहारे प्रेमाभक्ति की अवस्था प्राप्त करने के बाद, भक्त को किसी साधन, नियम आदि की आवश्यकता नहीं होती। इस भक्ति को निस्साधन भक्ति भी कहा जाता है। प्रेम लक्षणा भक्ति में डुबे हुए भक्त को मोक्ष-प्राप्ति की स्पृहा नहीं रहती। वल्लभाचार्य जी ने अपने 'भक्तिवर्द्धिन्न' ग्रंथ में प्रेम लक्षणा भक्ति की तीन अवस्थाएं बताई हैं—स्नेह, आसक्ति और व्यसन। स्नेह भक्ति की अवस्था में भक्त के समस्त लोकाधार छूटकर भगवान् में लग जाते हैं। आसक्ति की अवस्था में मिलन की विकलता रहती है। आसक्ति विरह की अवस्था है। व्यसन में प्रत्येक क्षण भक्त को भगवान् का ही ध्यान रहता है, संसार का कोई पदार्थ अच्छा नहीं लगता। इसके बाद 'प्रेम की तन्मय अवस्था' आती है। वल्लभ मत में ईश्वर का सुदृढ़ प्रेम साध्य माना जाता है; बिना अनुग्रह के यह प्रेमभाव प्राप्त नहीं होता, इसीलिए पुष्टि मार्ग की स्थापना की गई है। वल्लभ-मतानुसार सांप्रदायिक भक्तों का विश्वास है कि भक्त का कार्य भगवान् से मिलन की उत्कट कामना रखते हुए केवल सुदृढ़ और सतत् अनन्य प्रेम करना है। भगवत् प्राप्ति में पुरुषार्थ और साधन काम नहीं आते।

ब्रज के गोप-गोपियों और भक्तों के उपास्य देव श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण ब्रजवासी हैं, मथुरा और द्वारकावासी कृष्ण नहीं। प्रभास क्षेत्र में जब गोपियां तथा ब्रजवासी भक्तगण कृष्ण से मिले हैं उस समय भी चक्रसुदर्शनधारी, राजनीति-कुशल कृष्ण से मिलकर भी विरह का ही अनुभव करते हैं। वे लोग उस उपास्य देव की खोज करते हैं जिसकी बांसुरी की तान ने उनके मन में लोक विरक्ति और कृष्ण अनुरक्ति का मंत्र फूंका था। वल्लभ संप्रदाय में ब्रजवासी कृष्ण की ही उपासना का वर्णन है। अष्टछापी कवियों ने तो ब्रज के बांके बिहारी कृष्ण के ही गीत गाए हैं।

श्री कृष्ण की भक्ति के लिए वल्लभ संप्रदाय में दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव का वर्णन है। इनके अतिरिक्त शांत भाव की भक्ति भी है किंतु उसका विधान यहां नहीं है। इन चारों भावों में कांताभाव या मधुरभाव की भक्ति की श्रेष्ठता होने पर भी स्वरूपों की सेवा बहुधा बाल-भाव से होती है। यह बाल भाव वात्सल्य भक्ति के अंतर्गत है। वल्लभ संप्रदाय में बाल-भाव की उपासना की प्रधानता क्यों मिली, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर वल्लभाचार्य जी ने भागवत के अनुसार दिया है कि वात्सल्य भाव की सेवा-पद्धति में निष्काम प्रेम का भाव सर्वाधिक रहता है। इस प्रकार की प्रीति के अभ्यास से साधन की प्रारंभिक अवस्था में लौकिक वासनाएं शीघ्र ही दूर हो जाती हैं और निरोध की अवस्था द्रुतगति से आती है। बालक के निष्कपट, भोले और पवित्र रूप पर सबका मन मोहित होता है। रति प्रेम की तरह वात्सल्य-स्नेह भी मानव

जाति का एक व्यापक भाव है। वात्सल्य प्रेम में स्नेह-पात्र (बालक) के अबोध और अनासक्त होने के कारण स्नेही को उससे, बदले के रूप में, कुछ प्राप्ति की इच्छा नहीं होती। वात्सल्य भाव की भक्ति करने वाले कृष्ण-भक्तों ने इसी कारण अपने को यशोदा की स्थिति में अधिक रखा है, नंद के रूप में नहीं देखा। वल्लभ संप्रदाय में वात्सल्य भाव की जो प्रतिष्ठा है वैसी अन्य संप्रदायों में नहीं है। अष्टछाप के कवियों ने अपने सांप्रदायिक मतानुसार बाल लीला में जितना सुंदर गायन किया है वैसा कहीं अन्यत्र सुलभ नहीं है। वात्सल्य में भी श्रृंगार भक्ति की तरह वियोग वर्णन पाया जाता है। सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास आदि अष्टछापी कवियों ने बालक कृष्ण के वियोग को बाल, कुमार और पोंगड तीनों लीला-रूपों में गाया है। कुमार अवस्था का माखनचोर बाल-रूप इन कवियों का प्रिय रूप रहा है। इन तीनों बाल-रूपों का पृथक-पृथक वर्णन पढ़कर कृष्ण के लीला वैविध्य का भी ज्ञान होता है। माखनचोर बालक कृष्ण की सरल-सहज बातचीत का इन कवियों ने हृदयग्राही रूप से वर्णन करके काव्य में एक विशिष्ट वात्सल्य रस ही बना दिया है। चैतन्य मत के 'हरि भक्ति रसामृत सिंधु' ग्रंथ में वात्सल्य को स्वतंत्र रस स्वीकार किया गया है। बाल-कृष्ण की लीलाओं के द्वारा इस रस को स्थापित करने का मोह परवर्ती आचार्यों में भी लक्षित किया जा सकता है।

3

वल्लभ-संप्रदाय की सेवा एवं पूजा विधि

अष्टयाम सेवा (नित्यसेवा)

पुष्टिमार्गीय भक्ति पद्धति में आराध्य की सेवा का विधान सामान्य न होकर विशिष्ट है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने इस सेवा विधि को बहुत ही विस्तार से अपने संप्रदाय में प्रवर्तित किया था। सेवा दो प्रकार की है—नित्य और नैमित्तिक। नित्य सेवा प्रतिदिन प्रातःकाल से रात्रि-पर्यंत किसी-न-किसी रूप से चलती रहती है। इसे अष्टयाम सेवा कहते हैं। दूसरी नैमित्तिक सेवा वर्षोत्सवों के रूप में संपन्न की जाती है। वर्ष में जो विविध त्योहार, यात्रा, पर्व आदि संपन्न होते हैं उनके लिए सांप्रदायिक दृष्टि से राग-रागनियों के गायन, भजन, कीर्तन तथा शृंगार आदि का विधान है। ये वर्षोत्सव ऋतुओं के अनुसार भी होते हैं। अष्टयाम सेवा को संपन्न करने के लिए शृंगार, भोग और राग को प्रमुख स्थान दिया गया है। इस संसार यात्रा में मनुष्य को लौकिक शृंगार, भोग और राग (संगीत) की आवश्यकता होती है। प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवन में शृंगार के साधन जुटाता है, भोग की सामग्री एकत्र कर उसका उपभोग करता है तथा मनःप्रसादन के लिए राग-रागनियों द्वारा संगीत का आनंद प्राप्त करता है। अष्टयाम सेवा में भी इन तीनों का ही प्रमुख स्थान है। अष्टयाम सेवा का क्रमश: सामान्य परिचय इस प्रकार है :

मंगला : प्रातःकाल पांच बजे से छह बजे तक मंगला आरती के मधुर पद गाकर श्रीकृष्ण को जगाया जाता है। मंगल भोग के साथ जो पद आरती में गाए जाते हैं वे प्रातःकालीन रागों में बंधे होते हैं। उनका विषय जागरण के साथ खंडिता विषयक शृंगार रस भी होता है। इस शृंगार रस को लौकिक शृंगार के साथ नहीं देखा जाता। मंगला के समय कलेऊ कराया जाता है जिसे मंगल-भोग कहते हैं। कलेऊ में दधि-माखन को स्थान दिया जाता है।

अब ही जसोदा माखन लाई।
मैं मथि कें अबही जू निकास्यों तुम कारन मेरे कुंवर कन्हाई।

× × ×

जागरण विषयक पद है—

नींद के मतवारे स्याम खोलो क्यों न पलकें ।
सूर के सलौने स्याम देखो नयन भरि कें ।।

श्रृंगार : इस सेवा का समय प्रातः सात से आठ बजे के मध्य है। इसमें आराध्य के विग्रह को स्नान कराकर, तेल आदि लगाकर, चंदन चर्चित कर वस्त्राभूषण धारण कराए जाते हैं। पद-गायन में समयानुसार रागों का विधान है। बिलावल राग का प्राधान्य रहता है। श्रृंगार आरती के पद साहित्य सौष्ठव की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हैं। उनमें अलंकृत विग्रह की छवि का वर्णन अनायास सुंदर बन पड़ा है। अलंकरण की संपूर्ण प्रक्रिया भी इन पदों में वर्णित है—

करति श्रृंगार मैया मन भावत ।
सीतल जल उष्ण करि राख्यौ लै लालन कौं बैठि न्हवावत ।
पहरो लाल झगा अति सुंदर, आंखि आंजि कै तिलक बनावति ।
सूरदास प्रभु खेलत आंगन लेति बलैया मोर बढ़ावति ।

एक पद में इस प्रकार अलंकरण का वर्णन है—

मोर मुकुट कटि काछनी जननी पहिरावै ।
स्याम अंग भूषन सजै, बिंदुका जु बनावै ।।
नूपुर कंकन किंकिनी कर वेनु सुहावै ।
भोग अरप वीरा दियो सुख सूर बढ़ावै ।।

ग्वाल (गौचारण) : इस तीसरी सेवा में श्रीकृष्ण ग्वाल-बालों के साथ वन में खेलने जाते हैं। इसका समय 8 बजे से 9 बजे तक का है। खेलने जाते समय उस सारी सामग्री को साथ ले जाने का वर्णन किया जाता है जो बालकों के पास रहती है जैसे भंवरा चकडोरी, कंदुक, गिल्ली-डंडा आदि। इसके अतिरिक्त गौचारण के लिए दूध दूहने के लिए दोहिनी भी साथ ले जाते हैं। ब्रजलीलाओं में ग्वाल सेवा को सूर तथा अन्य अष्टछापी कवियों ने बड़े मनोयोगपूर्वक गाया है। इसका प्रमुख कारण ग्वाल बाल (जनसामान्य) के साथ श्रीकृष्ण का सम व्यवहार वर्णित करना है।

रै मैया री दोहिनी दुहिलाऊं गैया ।
माखन खाय बल भयौ तोहि नंद दुहैया ।।
ग्वालन के संग दूहत हों बूझहु बल भैया ।
सूर निरखि जननी हंसी तब लेति बलैया ।।

× × ×

दै मैया भंवरा चकडौरी ।
जाइ लेहु आरे पर राख्यौ काल्हि मोल ले राखी कौरी ।

× × ×

राजभोग : यह सेवा चौथी है और इसमें भोजन सामग्री का ही विधान है। वन में क्रीड़ारत कृष्ण के लिए जो भोजन विशेष रूप से तैयार किया जाता है उसे छाक कहते हैं। छाक की सामग्री भले ही बदल गयी हो लेकिन आज भी ब्रज में खेतों में काम करने वाले किसानों के लिए जो भोजन सामग्री जाती है उसे छाक कहते हैं। मठा, दही, माखन, मिस्री आदि के साथ विशिष्ट व्यंजन छाक वन का भोजन है। सारंग राग में सूर ने राजभोग के पद लिखे हैं। इसके अतिरिक्त आसावरी, धनाश्री आदि रागों का भी व्यवहार होता है। सूर ने राजभोग के पदों में कृष्ण को बालक की पूरी छवि में अंकित किया है—

जेंवत कान्ह नंदजू करि कनियां ।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत, छवि निरखति नंद रनियां ।
आपुन खात, खवावत ग्वालन, कर माखन दधि दुनियां ।।
सद माखन मिश्री मिश्रित करि, मुख नावत छवि घनियां।
भोजन करि अचवन जल कीनौ, मांगत सूर जुठनियां ।।

आई छाक बुलाए स्याम ।
यह सुनि सखा सबे जुरि आए, सुबन सुदाम अरु श्रीराम ।

राजभोग के पदों में यह लक्षित करने योग्य है कि सूर ने कृष्ण को अपने संपूर्ण परिवेश में जन साधारण के मध्य मानवीय लीलाओं में ही गाया है। ऐश्वर्य और महिमा का कहीं आतंक नहीं है।

उत्थापन : यह पांचवीं सेवा अपराह्न में संपन्न होती है जब श्रीकृष्ण मध्याह्न का विश्राम पूरा कर जागते हैं। कहा जाता है कि इस सेवा का दायित्व सूर को सौंपा गया था। उत्थापन सेवा का समय सायं साढ़े तीन से चार बजे तक का है। धनाश्री, भीम पलासी आदि रागों के गाए जाने का विधान है। सूर ने उत्थापन के पदों में कूट का भी प्रयोग किया है। उत्थापन में द्विविध भाव की संश्लिष्टि है। बालकृष्ण के भाव में कृष्ण को यशोदा वात्सल्य भाव से जगाती है एवं निकुंज भाव से सखियां प्रभु को निकुंज से जगाती हैं। इस सेवा में कृष्ण को ब्रज में आने के भाव से पदों का गायन होता है।

सांझ भई, घर आवहु प्यारे ।
दौरत कहां चोट कहुं लागे, प्रति खेलोगे होत सकारें।

× × ×

नटवर वेष धरें आवत छवि तें।
सूरदास प्रभु की छवि ब्रजललना निरखि थकित
तन, मन न्योछावर करै बहुतें ।

संध्या-भोग : यह छठी सेवा है जिसमें ठाकुर जी को फल-फूल आदि का भोग लगाया जाता है। हमें ऐसा बताया गया है कि वल्लभ-संप्रदाय के कुछ मंदिरों में उत्थापन सेवा के साथ ही संध्या-भोग की सेवा संपन्न कर दी जाती है । वस्तुत: इनमें बहुत देर का अंतर है भी नहीं। क्योंकि इस सेवा का समय साढ़े चार बजे से पांच बजे तक ही है । संध्या-भोग में ऋतु के अनुसार पदगान की व्यवस्था है: जैसे शीतल काल के गेय पदों में उष्ण पदार्थों का वर्णन होगा और ग्रीष्म ऋतु में शीत पदार्थों का। ग्रीष्म ऋतु में गुलाब जल से भरी गुलाबदानी रखकर दर्शन खोले जाते हैं। शीत ऋतु में माखन रोटी ताती-ताती (गर्म) ही दी जाती है।

संध्या-आरती : यह सेवा सातवीं है। इसमें कृष्ण की घंटनाद के साथ आरती की जाती है। इसमें श्रीकृष्ण के वन से गोचारण करके वापस आने की भावना की जाती है । इस सेवा का समय गोधूलि बेला ही समझना चाहिए । सायंकाल पांच से छह बजे के मध्य इस सेवा को संपन्न किया जाता है । भक्तगण मन में कृष्ण के सकुशल वन से वापस आने की कामना करते हैं।

यह देखौ नंद को नंदन आवत।
वृन्दावन तै गाय चरायकें कर धर वेनु बजावत ।
× × ×
सांझ भई घर आये न कन्हैया ।
गोपी पूछें ग्वालन सों कहां गये मेरे ब्रज के बसैया ।
घर रहे बछला वन रहे गैया, जमुना किनारे ठाढ़ी जसुमति मैया ।
× × ×

शयन : अष्टयाम में अंतिम और आठवीं सेवा भगवान् की शयन सेवा कही जाती है। शयन आरती का समय रात्रि के आठ बजे के लगभग होता है। व्यारू भोग के बाद आरती होती है। यमन, केदार, विहाग, कान्हरा आदि रागों में पद-गायन होता है। आभूषण उतारना, व्यालू खिलाना, दूध पिलाना आदि क्रियाओं से संबंधित सुंदर पद सूर ने लिखे हैं। शयन के समय दर्शन की भावना से लिखे गए पद भी कृष्ण के सौंदर्यातिशय के ही द्योतक हैं।

कुंडल मंडित कपोल अति लोल डोलति ।
वडरे नैन चपल सजल सरस भरे ।

नासा सुकवर सुढाल बिंब प्रवील,
हसन दसन लसनि मानो फूल झरे ।

× × ×

शयन सेवा में निकुंज लीला का भी वर्णन समाविष्ट है। कुंज में विहार-रत कृष्ण को सूर ने शृंगार रस में गाया है—

कुंज में विहरत नवल किशोर ।
एक अचंभो देखि सखी री उग्यो सूर बिन भोर।
तहं घनस्याम दामिनी राजति ह्वै ससि चारि चकोर।
अंबुज खंजन वापु मिली क्रीड़ित एकहिं खोर ॥

शयन में रतिक्रीड़ा, मान मर्दन आदि के पदों का भी समावेश होता है। यद्यपि शयन सेवा को वात्सल्य भावना से युक्त रखने का प्रारंभ में भले ही कुछ आग्रह रहा हो किंतु सम्प्रति जिस प्रकार पदों का गायन होता है उसे देखकर कुंज लीला का ही प्राधान्य माना जायेगा।

नैमित्तिक सेवा

यह सेवा वर्षोत्सवों के रूप में की जाती है। इसमें नित्य एवं अवतार लीलाओं के उत्सव, षट् ऋतुओं के उत्सव, लोक त्यौहार (रक्षाबंधन, दशहरा, दीपावली, होली) प्रमुख हैं। वैदिक पर्व, मकर संक्रांति, अवतारों के जन्मोत्सव, कृष्ण-जन्माष्टमी, रामनवमी, राधाष्टमी, नृसिंहजयंती, अक्षय तृतीया, अन्नकूट, गोपाष्टमी, व्रतचर्या आदि हैं। देवी-देवताओं के पूजन के निमित्त भी पर्वोत्सवों का विधान वल्लभ-संप्रदाय की नैमित्तिक सेवा में किया गया है। शरद और वर्षा ऋतु के उत्सव भी धूमधाम से मनाए जाते हैं। शरदोत्सव को रासलीला द्वारा संपन्न किया जाता है। कुछ अन्य लीलाएं भी उत्सवों में सम्मिलित हैं जैसे गोवर्धन लीला, डोलोत्सव, श्रावण शुक्ल एकादशी आदि। इन समस्त उत्सवों को राग-रागनियों द्वारा गा-बजाकर मनाने का उत्साह आज भी वल्लभ-संप्रदाय के मंदिर में पाया जाता है। ब्रजभूमि में वल्लभ संप्रदाय के उत्सवों के कारण वर्ष-भर आनंद-उल्लास का वातावरण बना रहता है।

4

वल्लभ-संप्रदाय में अष्टछाप की स्थापना

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी की अष्टयाम सेवा-पूजा के लिए उनकी लीला-भावना के अनुसार समय और ऋतु के विशिष्ट रागों द्वारा कीर्तन करने की व्यवस्था की थी। इस कार्य के लिए उन्होंने अपने पिताश्री के चार शिष्य-सेवकों और चार अपने शिष्यों की एक मंडली बनाई जो राग-रागनियों को ध्यान में रखकर कीर्तन करने में दक्ष थे। ये आठों महानुभाव केवल सेवक ही नहीं, पुष्टिमार्ग के ज्ञाता, भक्त और उच्चकोटि के कवि भी थे। वल्लभाचार्य के चार शिष्य—**कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास** और **परमानंददास** तथा गो० विट्ठलनाथ जी के चार शिष्य **गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास** और **नंददास** थे। इन आठों भक्त कवियों की मंडली अष्टछाप नाम से विख्यात हुई। ये आठों भक्त कवि संगीतज्ञ भी थे और मंदिर में श्रीनाथ जी के सम्मुख लीलागान करते समय अपनी भक्तिभावना का परिचय देकर श्रोतागण का मन मोह लेते थे। गोस्वामी हरिराय जी ने अष्टछाप के अष्टसखाओं का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि अष्टसखाओं में लीलात्मक स्वरूपों की दो प्रकार की स्थिति है। दिन के समय ये ठाकुर जी के सखा रूप में उनकी वन लीला का आनंद प्राप्त करते हैं और रात्रि के समय स्वामिनी श्री राधा के सखी रूप में निकुंज लीला का आनंद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये अष्टछाप के आठों भक्त कवि श्रीनाथ जी के अंग रूप ही हैं और उनकी अंतरंग लीलाओं में अहर्निश सम्मिलित होकर लीलारस का दिव्यानंद प्राप्त करते हैं। इन आठों का निवास-स्थान गोवर्धन के समीप ही भिन्न-भिन्न स्थलों पर था। ये स्थान गोवर्धन की सीमा में ही हैं। सूरदास पारासौली-चंद्रसरोवर में रहकर साधना करते थे। यहां एक कुटिया बनी हुई है जो सूर का स्मरण कराती है। चंद्रसरोवर के निकट जमुनावती गांव में कुंभनदास रहते थे। कृष्णदास का स्थान जतीपुरा के विकट विलछूवन में था। परमानंददास का साधना स्थान सुरभी कुंड पर था। गोविंदस्वामी सुरभी कुंड से कुछ आगे वन-खंड में जिसे कदमखंडी कहते हैं रहते थे। छीतस्वामी मथुरा में रहते थे किंतु उनका साधना स्थान पूंछरी गांव के समीप अप्सरा कुंड पर था। यह रामदास की गुफा के समीप है। चतुर्भुजदास अपने पिता कुंभनदास के साथ जमुनावती गांव में ही

रहते थे। नंददास गोवर्धन के निकट मनसा देवी के मंदिर के समीप मानसी गंगा के किनारे पीपल के पेड़ की छाया में साधना करते थे। इस प्रकार ये आठों भक्त अपनी साधना के साथ श्रीनाथ जी के कीर्तन-गायन में भी सम्मिलित होकर अपना जीवन सफल बनाते थे। इनकी साधना-स्थली होने से ब्रज में गोवर्धन का महत्व बहुत अधिक है। अब भी पूर्णिमा के दिन हजारों भक्त गोवर्धन की परिक्रमा करने दूर-दूर से आते हैं।

वल्लभ संप्रदाय के उपास्य देव श्रीनाथ जी का विग्रह गोवर्धन में चिरकाल तक नहीं रह सका। मुगल सम्राट औरंगज़ेब के आक्रमणों के कारण वल्लभ-कुल के गोस्वामी श्रीनाथ जी को आगरा, ग्वालियर, कोटा, पुष्कर, कृष्णगढ़, जोधपुर, चापसैनी होकर मेवाड़ ले गए। मेवाड़ के राजा राणा राजसिंह ने गोस्वामियों को पूरा संरक्षण प्रदान किया और सिहाड़ गांव में मंदिर में प्रतिष्ठित कराया। यह सिहाड़ गांव ही श्रीनाथ जी के नाम के साथ नाथद्वारा नाम से प्रसिद्ध हुआ। नाथद्वारा वल्लभ संप्रदाय का पूज्य तीर्थ है। यहां श्रीनाथ जी का जो विग्रह स्थापित है वह श्रद्धालु भक्तों की वांछित मनोकामना पूरी करने वाला माना जाता है। नाथद्वारा के मंदिर में पूजा की विशिष्ट सामग्री रहती है। प्राचीन काल में तो भगवान् के प्रसाद की सामग्री सुवर्ण की चक्की में पीसकर तैयार की जाती थी। आज भी यह सोने की चक्की मंदिर में मौजूद है। श्रीनाथ जी की सेवा में जो सामग्री काम में लाई जाती है वह सब प्रकार शुद्ध तथा बहुमूल्य होती हैं। घी, दूध, शकर, शहद, आटा, मैदा, सूजी आदि सामग्री मंदिर में परखकर ही प्रयोग में लाई जाती है। मेवा, फल, फूल आदि में भी शुद्धता का ध्यान रखा जाता है।

5

अष्टछापी कवियों की भक्ति-भावना

अष्टछाप के कवियों ने भक्ति की व्याख्या तो नहीं की, हां भक्ति की महिमा का वर्णन इन्होंने बहुत किया है। श्री वल्लभाचार्य तथा भक्ति मार्ग के अन्य आचार्यों का समर्थन करते हुए इन्होंने कहा है कि संसार-दुःख से निवृत्ति का सरल मार्ग ज्ञान और योग की अपेक्षा प्रेम-भक्ति का ही है और जहां इन्होंने भगवान् की स्तुति की है, वहां उनसे उनकी प्रेम-भक्ति ही मांगी है। प्रेम-भक्ति की महिमा को सूरदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

> रे मन समुक्ति सोच विचारि।
> भक्ति बिनु भगवन्त दुर्लभ कहत निगम पुकारि॥

यहां सूरदास जी ने ज्ञान तथा योग के अन्य मार्गों का खंडन नहीं किया है, उन्होंने तो यही कहा है कि ज्ञान और योग मार्ग से भगवान् कठिनता से मिलते हैं तथा भावमय प्रकृति रखने वाले व्यक्तियों के लिए भक्ति का प्रेम-मार्ग ही सरल उपाय है। 'सूरसागर' के गोपी-उद्धव-संवाद में यही बात सूर ने सिद्ध की है। परमानंददास जी ने भी कई पदों में यही कहा है—जो ज्ञान और योग के मार्ग पर लगे हैं, वे लगे रहें, परंतु मैं तो गोपाल का उपासक हूं और उसी में मुझे सुख प्राप्ति हुई है—

> माई हो अपने गोपलहिं गाऊं।
> सुन्दर स्याम कमलदल लोचन देखि देखि सुख पाऊं॥
> जो ग्यानी ते ग्यान विचारो जो जोगी ते जोग।
> कर्मठ होय ते कर्म विचारो जे भोगी ते भोग॥
>
> × × ×
>
> अपने अंसि की सुरति तजी है मांगि लियो संसार।
> परमानंद गोकुल मथुरा में उपज्यो यहै विचार॥

ज्ञान-योग की कठिनता को बताते हुए परमानंददास कहते हैं—इन मार्गों को

कष्ट साधना में शरीर को क्यों कष्ट देते हो। हरि-भजन के सरल मार्ग में सर्व-सिद्धि है—

हरि के भजन में सब बात।
ज्ञान कर्म सो कठिन करि कत देत हो दुख गातु ॥
बदत वेद पुराण छिनु छिनु साझे अरु परभात।
संत जन मुख द्रवत हरि जसु नंदलाल पद अनुराग ॥
नाहिन भव जलधि कोउ औरों विघन के सिर लात।
दास परमानंद प्रभु पै मारि मुख ये जात ॥

नंददास भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए 'दशम स्कंध भाषा भागवत' में कहते हैं: हे प्रभु तुम्हारी भक्ति के बिना ज्ञानादि का जो लोग साधन करते हैं, उनको बहुत श्रम करना पड़ता है। अष्टांग योगी और कर्ममार्गी सब अपने-अपने मार्गों में अत्यंत क्लेश जानकर उन्हें छोड़ देते हैं और अंत में वे आपकी ही शरण लेते हैं। और आपकी भक्ति पाकर और आपकी कथा सुनकर सहज में मुक्ति और परमगति पाते हैं—

अब विधि कहत ग्यान है जोई, भक्ति बिना सोउ सिद्ध न होई।
तुम्हरी भगति अभी रस सरवर, मोक्षादिक जाके बस निर्झर ॥
तिहि तजि जे केवल बोध को, करत कलेस चित सोध को।
तिन कहुं छिन ही छिन श्रम बढ़े, और कछू न तनक कर चढ़े ॥
जैसे कन बिहीन ले धान, धमकि धमकि कूटत अज्ञान ॥

× × ×

हे प्रभु पाछे बहुतक भोगी, तजि तजि भोग भये भल जोगी।
ह्रिद अष्टांग जोग अनुसरे, ग्यान हेतु बहुते तप करे ॥
अति श्रम जानि कहां तें फिरे, तुम कहुं कर्म समर्पन करे।
तिनकर सुद्ध भयो मन मर्म, तब लीने प्रभु तुम्हें कर्म ॥
कथा श्रवन तहि पाई भक्ति, जाके संग फिरत सब मुक्ति।
ता करि आत्म तत्व कौं पाइ, बैठे सहज परम गति पाइ।

गोविंदस्वामी प्रेमभक्ति की महिमा के विषय में कहते हैं—"प्रीतम प्रेम ही से मिलते हैं, बिना स्नेह किए भगवान् को पाने की लालसा सेमर के फल से निराश हुए तोते की लालसा की तरह होती है"—

प्रीतम प्रीति ही ते पैये।
यदपि रूप गुण सील सुघरता इन बातन न रिझैये ॥

सत कुल जन्म कमर शुभ लक्षण वेद पुराण पढ़ैये ।
गोविंद बिना स्नेह सुआ लौं रसना कहा नचैये ।।

चतुर्भुजदास जी भगवान् के प्रति अपनी स्नेहमयी भक्ति का भाव निम्नलिखित पद में बड़े सुंदर रूप में प्रकट करते हैं—

स्याम सुन नियरो आयो मेहु,
भीजेगी मेरी सुरंग चूनरी ओट पीत पट देहुं ।
दामिनि ते डरपित हो मोहन निकट आपुनो देहु ।
दास चतुर्भुज प्रभु गिरधर सो बांध्यो अधिक सनेहु ।

पीछे कहा गया है कि वल्लभ-संप्रदाय में दोनों रूप—सगुण तथा निर्गुण—मान्य हैं । परंतु उस मार्ग का इष्ट रस-रूप सगुण ब्रह्म ही है । इस संप्रदाय ने कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति मार्गों में से भक्ति को अपनाया है । सूरदास, परमानंददास आदि अष्ट भक्तों ने भी सगुण ईश्वर ही की उपासना का भाव अपनी रचनाओं में प्रकट किया है । अनेक पदों में उन्होंने अपना यह निश्चित मत तथा अनुभूति प्रकट की है कि सगुण भक्ति व्यावहारिक रूप में सरल और सीधा मार्ग है तथा वह मार्ग परमानंद का शीघ्र फल देने वाला है । सूरदास तथा नंददास के भंवर-गीतों का गोपी-उद्धव-संवाद इसी सगुण-निर्गुण तथा भक्ति और ज्ञान के विवाद को प्रकट करता है । इन कवियों ने इस विवाद के अंत में सगुण ईश्वर की भक्ति को ही अधिक प्रभावमयी सिद्ध किया है । यहां इन्होंने निर्गुण ईश्वर और ज्ञान तथा योग मार्गों का खंडन नहीं किया, प्रत्युत उनकी काल और पात्र के अनुसार अपने युग में अनुपयुक्तता दिखाई है । 'सूरसागर' के आरंभ में सूर ने निर्गुणोपासना में होने वाली कठिनाई का उल्लेख किया है । वे कहते हैं : निर्गुण ईश्वर की गति न तो कहने में आती है और न उस अव्यक्त पर मेरे मन की भावमयी वृत्ति ही ठहरती है, इसलिए सब प्रकार से अव्यक्त ब्रह्म तक पहुंचने में अपने को असमर्थ पाकर मैं सगुण ईश्वर की भक्ति करता हूं और उसकी लीला के पद गाता हूं—

अविगत गति कछु कहते न आवै,
ज्यों गूंगे मीठे मीठे फल को रस अंतर्गत ही भावै ।
परम स्वाद सब ही जु निरंतर अमित तोष उपजावै,
मन बाणी को अगम अगोचर जो जानै सो पावै ।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चक्रत धावै,
सब विधि अगम विचारै ताते सूर सगुण लीला पद गावै ।

गोपियों को भी इन भक्तों ने श्रीमद्भागवत के अनुसार तथा अपनी प्रकृति के अनुकूल भावुक जन ही चित्रित किया है। सूर ने स्वयं कृष्ण के मुख से कहलाया है, 'योग, कर्म और ज्ञान के मार्ग से लोग मुझे नहीं पा सकते, और जो गद्गद् कंठ से मग्न होकर मेरा गान करते हैं, उनके हृदय में मेरा निवास है'—

कहत नंद लाड़िलो।
जटा भस्म तजु देहि गुफा बसि मोहि न पावै॥
तजि अभिमान जो गावही गद्गद् सुरहि प्रकाश।
तासु मगन हो ग्वालिनी ता घट मेरो बास॥ कहत नंद लाड़िलो।

गोपी-उद्धव-संवाद में सूर की गोपी कहती है—'हे उद्धव ! जरा सही बुद्धि से विचारो, तुम हम अबलाओं को ज्ञान और योग तथा निर्गुण ईश्वर का वाद सिखाने आए हो। तुम्हारा निर्गुण ईश्वर बहुत भारी है जो हमसे नहीं संभल सकता। हमको तो सगुण की भक्ति में ही चारों प्रकार की मुक्तियों (सालोक्य, सान्निध्य, सारूप्य और सायुज्य) का लाभ मिल गया, हम योगाभ्यास करने योग्य नहीं और न ज्ञान के सार को जानने की हममें बुद्धि है'—

ऊधौ सूधे नेकु निहारो,
हम अबलनि को सिखावन आये सुनो सयान तुम्हारो।
निर्गुण कहो कहा कहियत है तुव निर्गुण अति भारी।
सेवत सगुण स्याम सुंदर को मुक्ति लहीं हम चारी।
हम सालोक्य स्वरूप सरो ज्यो रहत समीप सहाई,
सो तजि कहत और की औरे तुम अलि बड़े अदाई।
अहो ज्ञान मतहि उपदेशत ज्ञान रूप हमहीं।
निस दिन ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत जित तितहीं।

सूरदास की तरह परमानंददास ने भी भंवर गीत के पदों में निर्गुण ईश्वर का निराकरण करके सगुण भक्ति को अपनाया है। नंददास जी ने भी निर्गुण ईश्वर की दुर्लभता तथा उसको छोड़ सगुण ईश्वर की भक्ति को अपनाने का भाव प्रगट किया है। अन्य अष्टभक्तों ने यद्यपि निर्गुण ईश्वर और भक्ति के विषय में कोई कथन नहीं किया, परन्तु उन्होंने जितना भी काव्य लिखा है वह सब सगुण ईश्वर और उसकी भक्ति विषयक ही है।

भक्ति दो प्रकार की है—गौणी तथा परा। साधन दशा की भक्ति 'गौणी' कहलाती है और सिद्ध-दशा की भक्ति 'परा' है। गौणी भक्ति के पुनः दो भेद हैं, वैधी और रागानुगा। जिस भक्ति का साधन शास्त्रोक्त विधिपूर्वक होता है और जिसके विविध अंगों का नियमपूर्वक साधन होता है उसे 'वैधी भक्ति' कहते हैं।

'वैधी भक्ति' तथा 'रागनुगा भक्ति' भावरूपधारिणी हैं। 'वैधी भक्ति' को कुछ लोग मर्यादा भक्ति भी कहते हैं। भगवान् की कृपा अथवा उनकी पुष्टि (अनुग्रह) द्वारा, बिना किसी साधन के ही भक्त के हृदय में भाव-भक्ति जागृत हो सकती है। ये भक्त भगवान् के विशेष कृपापात्र होते हैं। जिस भाव से भगवान् के प्रेम में अपूर्व रस का अनुभव होता है और जिस प्रेम भाव की अनुभूति से भक्त के हृदय में परम शांति और आनंद का उदय हो जाता है, उसे 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। श्री रूपगोस्वामी ने इसे दो प्रकार का कहा है—

1. काम-रूपा, तथा 2. संबंध-रूपा। वैधी और रागानुगा दोनों भक्तियां साधन दशा की भक्ति ही हैं। जब भक्त पूर्ण शांति की अवस्था को पहुंच जाता है तब उसे किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रहती। कामनारहित प्रेमानंद में ईश्वर से प्रेम करना ही 'परा भक्ति' है। गौणी भक्ति को 'साधन भक्ति' और 'परा भक्ति' को 'साध्य भक्ति' भी कहते हैं।

'श्रीमद्भागवत्' में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार की कही गई है। इस प्रकार का विभाजन वल्लभ-संप्रदाय में भी किया गया है और सूरदास ने भी इन चार प्रकार की भक्तियों का विवरण दिया है। यह भक्ति तामसी, राजसी, सात्विकी तथा निर्गुणा—चार प्रकार की है। प्रथम तीन प्रकार की गुणा भक्तियां काम्य हैं और चौथी 'निर्गुणा भक्ति' निष्काम है। सूरदास जी ने इस चौथी भक्ति को 'सुधासार भक्ति' भी कहा है। 'श्रीमद्भागवत' का गुरुसम्मत अनुकरण करते हुए सूरदास जी कहते हैं, "भक्ति (मनुष्य की वृत्तियों के अनुसार) चार प्रकार की है, सात्विकी, राजसी, तामसी और निर्गुणा अथवा सुधासार। सात्विकी भक्त मुक्ति चाहता है, राजसी भक्त धन-कुटुम्ब चाहता है, तामसी भक्त पर-अपकार, 'मेरा बैरी मर जाय' इस भाव से चाहता है, परंतु सुधाभक्ति का करने वाला भक्त मुक्ति को भी नहीं चाहता। यह अनन्य भक्त कुछ नहीं मांगता। इसका न कोई शत्रु होता है और न मित्र, इसको संसार की माया का संताप नहीं होता। वह केवल ईश्वर के प्रेम और दर्शन मात्र से ही परम सुख का अनुभव करता है।" इस प्रकार से सूरदास ने दो प्रकार के भक्त कहे हैं—एक 'सकाम' भक्त, दूसरे 'निष्काम' भक्त।

'श्रीमद्भागवत' में भक्ति के नौ प्रकार और दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। ये नौ प्रकार की भक्तियां साधन अवस्था की हैं। वल्लभ-मत में भागवत की नवधा भक्ति के अतिरिक्त दसवीं प्रेमलक्षणा भक्ति भी कही गई है और यही भक्ति उस मत में मुख्य है जिससे भगवान् के स्वरूपानंद की प्राप्ति होती है। सूरदास जी नवधा भक्ति और दसवीं प्रेम-लक्षणा भक्तियों का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

श्रवण कीर्तन स्मरण पाद रत, अरचन बंदन दास।
सख्य और आत्म निवेदन, प्रेम लक्षणा जास।।
—'सूरसारावली'

परमानंददास जी ने भी एक पद में इन्हीं दशधा भक्तियों का उल्लेख किया है और प्रत्येक भक्ति के करने वाले भक्तों के दृष्टांत भी दिए हैं। 'रासपंचाध्यायी' के माहात्म्य वर्णन में नंददास जी ने कहा है कि "यह कृति मेरे श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति साधनों का फलस्वरूप सार है।" इस कथन में उन्होंने नवधा भक्ति को साधन-रूप में स्वीकार किया है। 'रूपमंजरी' में नवधा भक्तियों में जो क्रियाएं भगवान् के नाम, लीला और रूप से संबंध रखती हैं उनको भी दो भागों के रूप में रख दिया गया है, एक भक्ति का नादमार्ग है, दूसरा रूपमार्ग। नाद के अंतर्गत श्रवण, कीर्तन और स्मरण आते हैं तथा रूपमार्ग में पाद सेवन, अर्चन और वंदन हैं। नंददास ने 'रूपमंजरी' में जहां रूपमार्ग की उपासना का उल्लेख किया है, वहां उन्होंने दास्य भाव से भगवान् के पाद सेवन, अर्चन और वंदन के स्थान पर रूपासक्तिपूर्ण जार भाव की सर्वत्यागमयी और सर्वअर्पणमयी भक्ति में आने वाली सेवा-अर्चना का रूप दिया है। नंददास ने भी सर्व साधनों का फल प्रेम भक्ति की प्राप्ति ही माना है।

सूरदास, परमानंददास तथा नंददास को छोड़कर अन्य अष्टछापी कवियों के काव्य में भक्ति के इस प्रकार के भेद और विभाजनों का वर्णन करने वाले पद लेखक को उपलब्ध नहीं हुए, परंतु उनकी उपलब्ध रचना में साधन भक्ति तथा साध्य प्रेम भक्ति का रूप स्पष्ट मिलता है।

वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि नवधा भक्ति के साधन-प्रकार द्वारा पूर्ण प्रेम की अवस्था आती है और प्रेम से भगवत् धर्मों का प्रादुर्भाव होता है। बिना प्रभु-अनुग्रह के ईश्वर की प्रेमभक्ति नहीं मिलती, इस बात को सूरदास जी दृढ़ विश्वास के साथ कहते हैं—

प्रेम-भक्ति बिनु मुक्ति न होइ, नाथ कृपा करि दीजै सोइ।
और सकल हम देखौ जोइ, तुम्हारी कृपा होई सो होइ।
× × ×
नाथ कृपा अब हम पर कीजै, भक्ति आपनी हमको दीजै।
प्रेम भक्ति बिन कृपा न होई, सर्व शास्त्र में देखे जोई।
—'सूरसागर', दशम स्कंध, उत्तरार्द्ध

नवधा भक्ति के अंतर्गत 'स्मरण-भक्ति' का मुख्य लगाव मानसिक जगत् से है। भगवान् के नाम, गुण, माहात्म्य, सर्वव्यापकता, लीला आदि का हमेशा

ध्यान रखना तथा उसी की याद में लीन रहना 'स्मरण भक्ति' है। इस भक्ति के साधन में भगवान् के नाम का जप विशेष महत्व का स्थान रखता है। नाम-स्मरण की महिमा सभी भक्तों ने कही है। साधक की चित्तवृत्ति इस ध्यान में इतनी रम जानी चाहिए कि चलते-फिरते, सोते-जागते, इष्टदेव का ही ध्यान बराबर बना रहे। भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने स्मरण भक्ति के दृष्टांत दिए हैं। भगवान् का ध्यान इस प्रकार रहे जैसे पनिहारी अन्य व्यापार करती हुई भी अपने सिर के घड़े का ध्यान रखती है। 'श्रीमद्भागवत' में स्मरण-भक्ति का प्रबोधन तथा उसकी महिमा का वर्णन अनेक स्थानों पर हुआ है तथा नाम-स्मरण का फल बहुत महत् बताया गया है। एकादश स्कंध में कृष्ण उद्धव से कहते हैं—"जो कोई विषय का चिंतन किया करता है उसका मन विषय कर्मों में लीन रहता है और जो व्यक्ति निरंतर मेरा स्मरण करता है उसका मन मुझमें ही लीन हो जाता है।" श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण तीनों भक्तियों का प्रभाव बताते हुए भागवतकार ने कहा है—"जो लोग आपके मंगलमय नाम व रूपों का कीर्तन या श्रवण करते हैं, औरों को सुनाते और स्वयं स्मरण-ध्यान करते तथा आपके चरण कमलों की सेवा में मन को लगाते हैं, वे फिर संसार में नहीं आते।" इसी प्रकार 'भगवत गीता' में भी कहा गया है कि —"हे अर्जुन, जो मनुष्य अनन्य चित्त से लगकर मुझको स्मरण करता है, मेरे में संलग्न उस योगी को मैं सुलभ हूं।"

सूरदास ने भगवान् के ध्यान और उनके नाम का प्रबोधन देने वाले बहुत-से पद लिखे हैं। सूर की यह केवल पर-उपदेशकारिणी कुशलता नहीं थी, वरन् श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधा भक्ति के अभ्यास से प्राप्त प्रेम के आनंद का उन्होंने स्वयं अनुभव भी किया था, तभी तो उन्होंने गाया था—

> नमो नमो करुणा निधान
> चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारी मिटि गयो तम अज्ञान।

परमानंददास ने भी अपनी स्मरण-भक्ति का परिचय देते हुए कहा है—"मैं सदैव जसोदा नंदन का ही चिंतन करता हूं।" उनकी स्मरण भक्ति और निरंतर कृष्ण-नाम, लीला और भगवान् के स्वरूप के ध्यान को प्रकट करने वाला एक पद वल्लभ-संप्रदाय में बहुत प्रसिद्ध है—इस पद के प्रसंग का उल्लेख 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में भी हुआ है। वार्ताकार कहता है कि इस पद को सुनकर श्री वल्लभाचार्य जी को हरि-स्मरण और ध्यान में बहुत गहरी मूर्छा आ गई थी। इस पद में कवि ने कहा है—'हे हरि, मुझे तेरी लीला की याद आती है। तेरी मोहिनी मूर्ति मेरे मन के भीतर-ही-भीतर अनेक चित्र उपस्थित कर रही है। तुम ही बताओ,

जिसको तुम एक बार अपना संयोग दे देते हो वह तुम्हारी बंक अवलोकन और मृदु मुस्कान को कैसे भूल सकता है ? तुम्हारी याद कभी तुम्हारे प्रगाढ़ आलिंगन का सुख देती है तो कभी वह तुम्हारे मधुर स्वर में मिलकर गाने लगती है। जब तुम छिप जाते हो तो याद में मेरी चेतना 'कहां हो, कहां हो' कह कर इधर-उधर दौड़ने लगती है। कभी मेरी अंतरात्मा नेत्र मूंदकर तुम्हें सर्वस्व अर्पण करती हुई बनमाला पहनाती है। इसी प्रकार मैं श्याम के ध्यान में विरह की घड़ियों को बिता रही हूं'—

हरि तेरी लीला की सुधि आवति ।
कमल नैन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावति ।
एक बार जाय मिलत मयाकरि सो कैसे बिसरावति ।
मृदु मुसिकानि बंक अवलोकनि चालि मनोहर भावति ।
कबहुंक निबड़ तिमर आलिगनि कबहुंक पिक स्वर गावति ।
कबहुंक सम्भ्रम क्वासि क्वासि करि संगहीन उठि धावति ।
कबहुंक नयन मूंदि अंतरगति बन माला पहिरावति ।
परमानंद प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गंवावति ।

प्रेम में स्मरण की अवस्था यद्यपि विरह की अवस्था होती है परंतु प्रेमी अपने प्रियतम की निरंतर याद में सर्वत्र और सर्व समय उसी को देखा करता है। कभी उसकी निष्ठुरता पर मानो सामने बिठाकर उसे कोसता है, कभी प्रेम में विभोर उसके साथ संयोग-सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार प्रेमी अनेक प्रकार के काल्पनिक व्यापार प्रिय के ध्यान में किया करता है। वह अवस्था वियोग में संयोग की अवस्था है। इस अवस्था के चित्र अष्टछाप काव्य में बहुत हैं। कुंभनदास जी कृष्ण के वियोग की कसक का अनुभव करते हुए तथा कृष्ण का ध्यान करते हुए कहते हैं—'मेरे जी से वह मूर्ति नहीं हटती। उसी का सदा ध्यान लगा रहता है। वियोग में मुझे नींद नहीं आती। उनकी मिलनी तथा उसका सुख एक पल भी चित्त से नहीं हटते। उनके गुणों की याद कर-करके सदा नेत्रों से नीर बहा करता है। उनके बिना मुझे कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती'—

कहा करौं वह मूरति मेरे जिय ते न टरई ।
सुंदर नंद कुंवर के बिछुरे निस दिन नींद न परई ।
बहु विधि मिलनि प्रान प्यारे की एक निमिष न विसरई ।
वे गुन समुझि समुझि चित्त नैननि नीर निरंतर ढरई ।
कछु न सुहाय तलावेली मनु विरह अनल तन जरई ।
कुंभनदास लाल गिरधर बिनु समाधान को करई ।

अन्य अष्टछाप के कवियों ने अपने अनेक पदों में अपने इष्टदेव के निरंतर ध्यान का भाव इसी प्रकार प्रकट किया है जिनका उल्लेख विषय-विस्तार की दृष्टि से यहां संभव नहीं है ।

सगुण ईश्वर के उपासक भक्तों ने, पीछे कहे संबंधों में ईश्वर को तीन रूपों में देखा है : एक स्त्री-रूप में, दूसरे पुरुष-रूप में और तीसरे युगल-रूप में । स्त्री-रूप के उपासकों ने भगवान् की मातृ-रूप तथा प्रियारूप - इन दो रूपों में भक्ति की है । भारतवर्ष के शाक्त उपासकों की एक शाखा ने परमतत्व ईश्वर की आराधना मातृभाव से अथवा जननी-जन्य-भाव से की है । प्रियारूप में अथवा 'माशूक' रूप में भजने वालों में सूफ़ी प्रेमी हुए हैं । राम, कृष्ण, नृसिंह आदि ईश्वर के रूपों की उपासना करने वाले अद्वैतमार्गीय भक्तों ने ईश्वर को एक तो पुरुष-रूप मानकर उससे सभी संबंध जोड़े हैं, दूसरे उसको स्त्री-पुरुष दोनों की समष्टि-भावना से भी देखा है । पुरुष-रूप ईश्वर के साथ जो स्त्री-रूप है वह अद्वैत वैष्णव संप्रदायों के अनुसार उसी की वशवर्तिनी शक्ति है । भगवान् और उसकी महाशक्ति दोनों अभिन्न हैं, एक ही के दो रूप हैं । इसलिए उन्होंने यदि भगवान् को पालक पिता कहा तो भगवान् की शक्ति को माता और यदि भगवान् को रस-रूप परम पुरुष कहा तो उसकी रस-शक्ति को भगवान् की आह्लादिनी प्रिया । वल्लभ-संप्रदाय में ईश्वर के एकाकी पुरुष-रूप तथा युगल-रूप दोनों रूपों की उपासना होती है । लेकिन इस संप्रदाय के मंदिरों का उपास्य स्वरूप केवल पुरुष-रूप कृष्ण का है, युगल-रूप का नहीं है । अष्टछाप भक्तों की रचनाओं से ज्ञात होता है कि उन्होंने कृष्ण का दोनों विधियों से ध्यान किया है । अष्टछाप भक्त यह मानते हैं कि भगवान् सर्वभाव से भजनीय है, परंतु उन्होंने जिस भाव को अपनी भक्ति के साथ अर्पित किया है, वह विविध रूपों में व्यक्त होने वाला प्रेमभाव है । यही उनकी प्रेमाभक्ति है ।

6

वल्लभ-संप्रदाय के ब्रज भूमि के पूज्य स्थान

ब्रजभूमि में वल्लभ-संप्रदाय के पूजनीय स्थानों में गोवर्धन, मथुरा, गोकुल, वृंदावन, नंदगांव, बरसाना, जतीपुरा, महावन, जमुनावती और परासौली प्रसिद्ध हैं। इन दस स्थानों की यात्रा तथा मंदिर पूजा भी श्रद्धा के साथ की जाती है। वैसे ब्रज में बारह वन और चौबीस उपवन भी प्रसिद्ध हैं। आधुनिक युग में सभी वन-उपवन सुरक्षित नहीं हैं। कुछ वन कट गए हैं और वहां गांव बस गए हैं। वल्लभ-संप्रदाय की एक यात्रा प्रतिवर्ष होती है जिसमें श्री वल्लभाचार्य की बैठकों पर ठहरती हुई वह यात्रा अब एक मास तक चलती है। इस यात्रा का माहात्म्य माना जाता है और इसमें भाग लेने वाले भक्त इन पूज्य स्थलों में ठहर कर अपने पाप-प्रक्षालन और पुण्य-संचय का लाभ उठाते हैं। गोवर्धन में श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ था। वह विग्रह मुगलकाल में सुरक्षित रखने के लिए मथुरा में आ गया। आजकल वह द्वारकाधीश के मंदिर में प्रतिष्ठित है। कांकरोली और नाथ-द्वारा में भी वल्लभ-संप्रदाय के पूज्य विग्रहों की प्रतिष्ठा है और नाथद्वारा का मंदिर वल्लभ-संप्रदाय का सुविख्यात पवित्र मंदिर माना जाता है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने सात पुत्रों को पृथक्-पृथक् सात स्थानों का स्वामी बनाकर उन्हें पृथक्-पृथक् विग्रह प्रदान कर अपने संप्रदाय का विस्तार कर दिया था। वल्लभ-संप्रदाय का विस्तार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के इस विधि के प्रसार कार्य से बहुत अधिक हुआ। वल्लभाचार्य जी जब ब्रज भूमि में आकर बस गए तब सांप्रदायिक प्रचार कार्यों में उनका योगदान उतना नहीं रहा जितना उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का था। गोस्वामी जी ने अपने पिता के कार्यों को दो रूपों में बढ़ाया। एक तो अपने पिताश्री के अधूरे ग्रंथों को पूर्ण किया तथा स्वयं भी सांप्रदायिक ग्रंथों की रचना की तथा दूसरे गुजरात और राजस्थान में भ्रमण करके सांप्रदायिक मंतव्यों को जनता तक पहुंचाया। इन दोनों कार्यों से वल्लभ-संप्रदाय सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत तथा पश्चिमी भारत का एक सबसे बड़ा धार्मिक संप्रदाय बन गया। ब्रज भूमि के दस स्थान तो आज भी उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना उस समय रखते थे। गोवर्धन, मथुरा, वृंदावन, गोकुल, नंदगांव और बरसाना का महत्त्व मंदिर निर्माण की

दृष्टि से और अधिक बढ़ गया है। गोवर्धन, मथुरा, नंदगांव, बरसाना और गोकुल के अतिरिक्त कुसुम सरोवर में भी वल्लभ-संप्रदाय की पूजा-पद्धति स्थापित है। वल्लभ-संप्रदाय की यात्रा ने इन स्थानों का महत्त्व बढ़ा दिया है। ब्रज का पक्षी मयूर वल्लभ-संप्रदाय में प्रिय पक्षी है। यह मोर पक्षी अब तो राष्ट्रीय पक्षी बन गया है। ब्रज भूमि में यह पक्षी सर्वत्र पाया जाता है और अपने सौंदर्य से कवियों के लिए भी वर्णन का विषय रहा है। गोवर्धन पर्वत के आसपास मोर का केकारव कालिदास जैसे कवि को आकृष्ट करने वाला रहा है। 'रघुवंश' महाकाव्य के छठे सर्ग में कालिदास ने गोवर्धन के मोर का वर्णन किया है। मोर पक्षी को वल्लभ-संप्रदाय में भी ब्रजभूमि का प्रिय पक्षी माना जाता है।

7

श्री वल्लभाचार्य की सामाजिक दृष्टि

श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित वल्लभ-संप्रदाय में आचार्य जी का स्थान महाप्रभु का है। इस संप्रदाय में इन्हें वैश्वानर के रूप में भगवान का साक्षात् अवतार भी कहा जाता है। जिस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म के रूप में भगवान श्रीकृष्ण का अवतार होता है उसी प्रकार वैश्वानर रूप में श्री वल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव होता है। श्रीकृष्ण असुरों के संहार के लिए अवतार लेते हैं तो श्री वल्लभाचार्य आसुरी वृत्तियों के विनाश के लिए अवतरित हुए थे। वैश्वानर शब्द ईश्वर-वाचक है। वैश्वानर सर्वत्र विद्यमान है और साकार है। वह आश्रय के लिए उदर में अंगुष्ठ मात्र है, ध्यान के लिए हृदय में प्रादेश मात्र है। मन तथा इंद्रियों में उनके कार्यों के अनुरूप अणु-रूप है। इस प्रकार वैश्वानर रूप आचार्य का वर्णन वल्लभ-संप्रदाय में पाकर हम उन्हें संकीर्ण या सीमाबद्ध सामान्य मानव से भिन्न कोटि के रूप में देखते हैं।

श्री वल्लभाचार्य का जीवनकाल सन् 1478 से 1530 ई० तक है। तिरेपन वर्ष के इस कार्यकाल में उन्होंने समस्त भारत का जो आध्यात्मिक और सामाजिक मार्गदर्शन किया वह राजनीतिक दृष्टि से उस उथल-पुथल के समय को देखते हुए अत्यंत विस्मयजनक है। आचार्य जी ने अपने समय की राजनीतिक स्थिति का वर्णन अपने 'कृष्णाश्रय' ग्रंथ में विस्तारपूर्वक किया है। उन्होंने इस ग्रंथ में जहां विदेशी आक्रांताओं के अत्याचारों का संकेत किया है वहां श्रीकृष्ण की शरण को ही अंतिम आश्रय माना है। विदेशी आक्रांताओं से राष्ट्र के अभिभूत हो जाने पर जनता के लिए श्रीकृष्ण ही एकमात्र शरण है। 'म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु, सर्व मार्गेषु भ्रष्टेषु, पाखंड प्रचुरे लोके' आदि वाक्यों से तत्कालीन धार्मिक स्थिति का बोध होता है और 'सत्पीड़ा व्यग्र लोकेषु' से सामाजिक परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

आचार्य वल्लभ ने षोडष ग्रंथों की रचना की जिनमें छह ग्रंथ ऐसे हैं जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक उपयोगिता के हैं। उनकी सार्वभौम प्रासंगिकता असंदिग्ध है। इनमें 'चतुश्लोकी' तो अत्यंत प्रसिद्ध है। इन ग्रंथों में न तो कहीं संकीर्ण सांप्रदायिकता है और न कहीं कर्मकांड आदि पर बल दिया गया है। ये

ग्रंथ संसार के झंझटों से मुक्ति पाने और आत्मबल संचय करने के लिए देश-काल की सीमा में नहीं समाते। आत्मनिर्भरता, कर्तव्यपरायणता एवं सम्यक् प्रकार से जीवन-साधना के लिए इनमें जो उपदेश और उद्बोधन अंकित हैं वे किसी धर्म, संप्रदाय, जाति या देश से बाधित नहीं हैं। ये ग्रंथ वास्तव में लोकोपकारी एवं पथ-प्रदर्शक ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों के आधार पर हम आचार्य जी को उस काल में एक महान् विभूति के रूप में देख सकते हैं। वल्लभाचार्य ने अपने ग्रंथों में ब्रज की महिमा का प्रचुर मात्रा में वर्णन किया है। यमुना नदी को सतत लीला सहचरी माना है। पुष्टि मार्ग में यमुना को साधन रूप और मुकुन्द की रति बढ़ाने वाली कहा है। यमुना का श्रीकृष्ण प्रिया के रूप में 'स्कंद पुराण' एवं 'गर्ग संहिता' में भी वर्णन मिलता है। वल्लभ-संप्रदाय के अनन्य भक्त ब्रज प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते। जीवन की सार्थकता की अनुभूति उन्हें ब्रजभूमि में रहकर ही होती है।

गिरिराज गोवर्धन को भी ब्रज रक्षक के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य वल्लभ ने अपने पुष्टिमार्ग को समन्वयवादी मार्ग कहा है। पुष्टिमार्ग में सभी अवतारों की स्तुति है और राम, शिव, हनुमान आदि के प्रति श्रद्धा भाव के पद पाए जाते हैं। यों तो उस समय वैष्णव और शैवों में घोर विरोध था किंतु पुष्टिमार्ग में वल्लभाचार्य ने इस विरोध-वैमनस्य को दूर रखकर सबको समान भाव से पूज्य माना है। राधा को उन्होने श्रीकृष्ण की परिणीता स्वकीया पत्नी माना है। परकीया आदि भावों के लांच्छन से दूर रखकर राधा को गार्हस्थ धर्म में दीक्षित मानकर पातिव्रत्य का जो आदर्श स्थापित किया है वह भारतीय पत्नीत्व का ही प्रतिरूप है।

श्री वल्लभाचार्य के कार्यों का तत्कालीन समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, आज उसकी क्या प्रासंगिकता है, यह विचारणीय प्रश्न है। वार्ता साहित्य में इस तथ्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार इस संप्रदाय में जाति-पांति, ऊंच-नीच, स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन, आदि का भेदभाव नहीं है। यह वार्ता साहित्य तत्कालीन समाज-रचना और सामाजिक व्यवहार पर अच्छा प्रकाश डालता है। वास्तव में वार्ता साहित्य जनसाधारण की वस्तु है और उसका संबंध लोक साहित्य से है। चरित्रों के माध्यम से साधना के मार्ग में आने वाली अनेकानेक कठिनाइयों के वर्णन द्वारा वार्ता साहित्य में भक्ति-पथ को प्रशस्त करने का प्रयास है। यह भक्ति-पथ श्री वल्लभाचार्य द्वारा दर्शाया गया है। इस साहित्य को पढ़कर वल्लभाचार्य जी के व्यक्तित्व की गरिमा के साथ उनके सामाजिक संपर्क पर भी प्रकाश पड़ता है। सामान्यत: भक्ति युग के आचार्यों के विषय में ऐसी धारणा बनी हुई है कि ये आचार्य व्यावहारिक जगत से पृथक् रहकर किसी कल्पना-लोक में निवास करते

थे, उनके भक्ति सिद्धांत वैयक्तिक, अव्यवहार्य और साधारण सामाजिक के लिए अनुपयोगी हैं, किन्तु यह धारणा भ्रममूलक है। यदि भक्ति मार्ग के निर्गुण और सगुण दोनों भागों के भक्त साधकों, संतों और आचार्यों के जीवन और कार्यों पर दृष्टिपात किया जाए तो हम पाएंगे कि वे लोक मंगल के लिए ही अवतरित हुए थे। यदि इन भक्तों, संतों और आचार्यों की जीवन-पद्धति का समग्र रूप में विश्लेषण किया जाए तो इनके उपदेशों से लोक जीवन को जैसा लाभ पहुंचा है वैसा कल्याणकारी लाभ न तो कोई शासक पहुंचा सकता है और न कोई राजनीतिक नेता या सुधारक वैसा लाभ पहुंचाने में समर्थ है। संत और भक्तगण लोक पीड़ा से द्रवित होकर ही अपने उपदेश देते हैं और उनका उपयोग किसी देश-काल की सीमा तक व्याप्त नहीं रहता। उनके आचरण और उपदेश युग-युग तक जनजीवन में व्याप्त रहते हैं और समाज कल्याण का काम करते हैं। भक्ति संप्रदायों की परंपरा में श्री वल्लभाचार्य अंतिम आचार्य हैं। उन्होंने लोक कल्याण का जो पथ प्रशस्त किया वह एक प्रकार से लौकिक दृष्टि से एक नवीन पथ था। उन्होंने संसार को मिथ्या, क्षणभंगुर या त्याज्य नहीं ठहराया। सद्गृहस्थ के रूप में गृहस्थाश्रम में रहते हुए उन्होंने सभी वर्ग, वर्ण, जाति, कुल आदि की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए सबके कल्याण के लिए, सबकी पीड़ा को दूर करने के लिए, करुणा प्लावित मन से देशाटन किया था और लोकधर्म का उपदेश देकर पाखंडहीन जीवन व्यतीत करना सिखाया था। वल्लभाचार्य वैष्णव धर्म के उन्नायक आचार्यों में हैं। वैष्णव धर्म में अहिंसा, करुणा, कृपा, अनुग्रह आदि भावों का प्राधान्य है। अपने ग्रंथों में उन्होंने इन्हीं भावों को उदात्त रूप में वर्णित किया है।

लौकिक जीवन में यौनाचार का जो रूप देखने में आता है उसके उदात्तीकरण का प्रयत्न भी वल्लभाचार्य जी के उपदेशों में है। काम को केवल वासना के विकृत रूप में न लेकर पुष्टिमार्ग में इसके लिए भगवान श्रीकृष्ण के सौंदर्य और लीला विलास में चित्त को रमा कर आनंद की उच्चावस्था में ले जाने का विधान है। काम की विकृत स्थितियों को दूर रखते हुए उसकी रागात्मक आसक्ति को भगवद् विषयक बनाने में जितना योग पुष्टिमार्ग में दिया गया वह सेवा भावना में लक्षित किया जा सकता है। लोक मंगल विधान की दिशा में यह उदात्तीकरण का प्रयोग माधुर्य भाव की भक्ति को सर्वजन सुलभ बनाना ही है। इस उदात्त भावना के कारण गृहस्थ धर्म और गृहस्थाश्रम की मर्यादा में भी उत्कर्ष आया और गृहस्थाश्रम त्यागकर वन में जाना या वैरागी बनने की दबावपूर्ण अवांछित क्रिया बन्द-सी हो गई। जनता ने गृहस्थ धर्म को भली-भांति समझा और उसको सम्मानपूर्ण स्थान देकर अपने जीवन में स्थान दिया।

श्री वल्लभाचार्य के सामाजिक आदर्शों में आंतरिक स्वच्छता, बाह्य

सदाचार और दया को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इन आदर्शों के स्वीकार करने में किसी भी व्यक्ति को आपत्ति नहीं हो सकती। अहिंसा, करुणा, प्रेम, दया, ममता आदि गुणों में किसी जाति, वर्ग, धर्म, देश या भौगोलिक सीमा का बंधन नहीं है। जो आदर्श सार्वभौम रूप से स्वीकृत करने योग्य होते हैं वे मानव जाति के पथ-प्रदर्शक होते हैं। उन्होंने आत्म-विकास को जीवन में प्रमुख स्थान दिया। आत्म-विकास के लिए आस्तिक भाव से ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास करना भी उनके मत में आवश्यक था, अत: भगवद् अनुग्रह का भरोसा रखकर चलने से जीवन में भटकाव नहीं आता। 'भागवत' की 'सुबोधिनी टीका' में आचार्य जी ने व्यक्ति के उपदेशों को महत्व न देकर व्यक्ति के आचरण को प्रमुख स्थान दिया है। आचरण की पवित्रता ही मनुष्य को भक्ति पथ पर ले जाने में सफल होती है। आज के युग में जिस सामाजिक समता की बात बहुत जोर-शोर से कही जाती है और उसे राजनीति में नारे के रूप में घोषित किया जाता है, आज जिसे हम सामाजिक न्याय (सोशल जस्टिस) कहते हैं वह वल्लभाचार्य जी की 'सुबोधिनी टीका' में बहुत व्यापक रूप से वर्णित है। उन्होंने लिखा है कि अपने और पराये की भावना सज्जन पुरुषों में नहीं होती। "परस्वेति असद्बुद्धि: सतां कदापि न भवति। स: सर्वत्र समदृष्टि: स दोषाभावान्न हन्यते।" समदृष्टि का भाव मानवता का सर्वोच्च भाव है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच किसी प्रकार की ऊंच-नीच भावना की दीवार खड़ी नहीं होने देता।

जिस युग में वल्लभाचार्य अपने विचारों को जनता के सम्मुख रख रहे थे वह युग राजनीतिक दृष्टि से उनकी धार्मिक भावनाओं के अनुकूल नहीं था, अत: त्रस्त और भग्न मनोरथ जाति को जीवित रहने के लिए उन्होंने जो उपदेश दिया वह त्रिगुणात्मक था। इस त्रिसूत्री योजना में उन्होंने पहली बात कही कि प्रत्येक व्यक्ति को पूरी शक्ति के साथ स्वधर्म का आचरण करना चाहिए। विधर्म से बचकर चलना चाहिए और पूर्ण संयम के साथ जीवनयापन करना चाहिए। "स्वधर्माचरणं शक्त्या, विधर्माच्चनिवर्तन्। इन्द्रियाश्वविनिग्राह:, सर्वथा न त्यजेत् त्रयम्।" उस युग के पूरे वातावरण और परिदृश्य को ध्यान में रखकर यदि तीनों बातों पर ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट होता है कि आचार्य जी की दृष्टि तत्कालीन समाज की स्थिति और उसके विकास पर केंद्रित थी। यह भी ध्यातव्य है कि उन्होंने वैराग्य और संन्यास के लिए अपने शिष्यों को कभी प्रेरित नहीं किया। अपने एक शिष्य नरहरिदास को संन्यासाश्रम से मुक्त किया और नरहरि बना कर, भगवा वस्त्र उतरवाकर, श्वेत वस्त्र पहना दिए। इससे स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था की रूढ़िगत मान्यता को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। अपने शिष्यों में ब्राह्मणेतर जातियों को स्थान दिया। अष्टछाप में भी ब्राह्मणेतर भक्त शामिल थे। आचार्य जी का यह उदार दृष्टिकोण उस परंपरा के प्रति विद्रोह

ही माना जाएगा जो परंपरा देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार न बदलकर जड़ हो जाती है। विद्वत्समाज का आदर करते हुए भी उन्होंने किसी अशिक्षित या अपढ़ व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की। बुद्धिजीवियों की भूमिका लोक शिक्षण की है। यदि विद्वान् व्यक्ति लोक शिक्षण का काम नहीं करता और अपनी विद्वता के अहं भाव में दंभी होकर जीता है तो उसे आचार्य जी विद्वान् नहीं मानते। 'वल्लभ दिग्विजय' ग्रंथ में राजा कृष्ण देव को उपदेश देकर यही बताया है कि विद्वानों का आदर करो, उनकी आजीविका का पूरा प्रबंध करो ताकि समाज में उच्च विचारों और आदर्शों का प्रचार होता रहे। यह लोक शिक्षण बुद्धिजीवी विद्वान् करें।

समाज व्यवस्था के विषय में आचार्य वल्लभ का दृष्टिकोण युग-सापेक्ष होने के साथ मानव जाति के हित में था। उन्होंने अपने समय में दलित-शोषित वर्ग की दुर्दशा देखी थी और शूद्रों तथा नारियों के विषय में उनका विचार था कि उन्हें भगवान श्रीकृष्ण की कृपा का पूर्णाधिकार है। 'सुबोधिनी टीका' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"ये भक्ता शास्त्ररहिता, स्त्री शूद्र द्विजबन्धव: तेषामुद्धारक: कृष्ण:।" ऐसे शास्त्र-ज्ञान से रहित स्त्री, शूद्र और पतित ब्राह्मणों के उद्धारक श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण भगवान के यहां किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है। स्त्री जाति को सम्मान देने के लिए उन्होंने ब्रजांगनाओं को गुरु पद देना स्वीकार किया है। निकुंज लीला में स्त्रियों को सखी भाव से स्थान देकर उच्च पदवी प्रदान की। 'चौरासी वैश्वानर की वार्ता' में ऐसे प्रसंग वर्णित हैं जिनमें आचार्य जी ने जिन स्त्रियों में दैवी गुण देखे उनको दीक्षा देकर शिष्य बनाया किंतु यदि स्त्री के पति में वह गुण नहीं थे तो वह दीक्षा प्राप्त नहीं कर सका। 'सुबोधिनी टीका' में तो इससे आगे बढ़कर श्रीकृष्ण को स्त्रियों का उद्धारक और हित-चिंतक माना है। शास्त्र मर्यादा के कारण स्त्रियों को सांसारिक कार्यों में बल होने के कारण मुक्ति का अधिकारी नहीं माना क्योंकि यह शास्त्र मर्यादा है। यह विचित्र विरोधाभास है। एक ओर स्त्रियों को दीक्षा देकर शिष्य बनाया जाता है तो दूसरी ओर शास्त्र मर्यादा की रक्षा के नाम पर उन्हें मुक्ति के अधिकार से वंचित किया जाता है। किन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि भगवान में प्रमेय बल मुख्य है, प्रमाण बल नहीं।

स्त्री जाति के साथ उस युग में सती प्रथा के नाम से जो भीषण अत्याचार हो रहा था उसका आचार्य जी ने विरोध किया। सती प्रथा का विरोध करने वाले आचार्यों में संभवत: उस युग में वे अकेले व्यक्ति थे। वल्लभाचार्य के शिष्य राणा व्यास की प्रेरणा से एक स्त्री ने सती होने से इंकार कर दिया। परिवार के बंधु-बांधवों ने बहुत जोर डाला कि वह सती-धर्म का पालन करे किंतु राणा व्यास ने सबको समझाकर बताया कि मनुष्य शरीर रोज-रोज नहीं

मिलता। यह दुर्लभ शरीर एक मृतक के साथ नष्ट क्यों किया जाए ? यह प्रथा मानवता के लिए अभिशाप है। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के पास जब यह विषय फैसले के लिए प्रस्तुत किया गया तो उन्होंने अपने शिष्य राणा व्यास के मत का समर्थन किया और सती प्रथा अस्वीकार करते हुए उस स्त्री को अग्निदाह से बचाया। उस स्त्री को पुष्टिमार्ग की दीक्षा भी दे दी गई और सेवा का अधिकार भी प्रदान किया गया। इस प्रकार सती प्रथा के विरोध में विचार व्यक्त कर आचार्य जी ने पांच सौ वर्ष पूर्व इस भीषण प्रथा को अस्वीकार कर दिया था।

वैष्णव संप्रदाय में वर्ण-व्यवस्था को शास्त्रीय आधार पर स्वीकृत सिद्धांत माना जाता है। वल्लभ-संप्रदाय में भी इसकी स्वीकृति है किंतु वल्लभाचार्य जी ने वर्ण-व्यवस्था को नया आयाम दिया और अपनी सेवा पद्धति में शूद्र को भी स्थान दिया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में एक वार्ता आती है जिसमें भगवानदास नामक एक ब्राह्मण की वार्ता है। भगवानदास जन्मना ब्राह्मण था और उसे अपनी जाति का अहंकार भी था। एक दिन उसने आचार्य जी से कहा कि मैं ब्राह्मण हूं किंतु मुझे आप की सेवा का अधिकार नहीं है, जबकि एक शूद्र आपकी सेवा में रहता है। आचार्य जी ने भगवानदास ब्राह्मण को जो उत्तर दिया वह आज के संदर्भ में भी ध्यातव्य और मननीय है। आचार्य जी ने कहा—"हमारे मन में ब्राह्मण और शूद्र की धारणा सर्वथा अलग है। जो भगवान को जानता और मानता है उसे हम ब्राह्मण मानते हैं, किंतु जो भगवान को नहीं जानता उसे हम ब्राह्मण नहीं मानते, वह तो शूद्र से भी गया-बीता है। चूंकि तुम्हें ब्राह्मण होने का अहंकार है तुम अपने को ऊंच जाति का मानते हो। तुम सच्चे सेवक नहीं हो। सेवक होने में जाति या वर्ण का बड़प्पन बाधक होता है। भक्ति मार्ग में जातिगत ऊंच-नीच का भाव निरस्त हो जाता है। इसीलिए श्रीनाथ जी की सेवा का दायित्व जन्मना ब्राह्मण का अधिकार नहीं है।" इसीलिए गोवर्धननाथ की सेवा का अधिकार सर्वप्रथम रामदास चौहान को सौंपा गया था। श्रीनाथ जी के प्रथम कीर्तनकार गायक कुंभनदास भी जन्मना ब्राह्मण नहीं थे। श्रीनाथ जी के मंदिर के प्रथम व्यस्थापक कृष्णदास भी शूद्र वर्ग के कहे जाते हैं। वल्लभाचार्य जी ने अपने समय में किसी शास्त्र निबद्ध सामाजिक परंपरा को स्वीकार नहीं किया वरन् अपनी मानवीय धारणा के अनुसार सभी जाति के लोगों को अपनी सेवा में स्थान दिया। उनके पास रहने वालों में कायस्थ, भाट, कुम्हार, सुतार आदि अनेक जाति के लोग थे। वह परंपरा आचार्य जी के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय और अधिक वेग के साथ प्रवाहित हुई। पुष्टिमार्ग में मोची, नाई, भंगी, बलाई, मुसलमान आदि भी दीक्षा प्राप्त करने के अधिकारी बने। वर्ण-व्यवस्था की जकड़ के पीछे जो अहंकार और उच्चता का दर्प था

वह नष्ट हो गया। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने पूज्य पिता का स्मरण 'पवित-पावन' और 'स्त्रीशूद्राद्युद्धतिक्षमः' आदि विशेषणों से अभिहित किया है।

अंधविश्वास, पाखंड, भूत-प्रेत आदि के विषय में जो धारणाएं समाज में प्रचलित हैं उनका विरोध श्री वल्लभाचार्य ने प्रत्यक्ष रूप से किया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सुंदरदास, माधवदास, नरहरि जोगी, दामोदरदास, संत-दास, प्रभुदास आदि की वार्ताओं में ऐसे विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। भूत-प्रेत से भय, इनकी पूजा, डाकोतियों की भविष्यवाणी आदि पर आचार्य जी को विश्वास नहीं था। अपने शिष्य माधवदास के घर में चली आ रही प्रेत-पूजा को इन्होंने छुड़वाया और वह विश्वास दृढ़ किया कि वैष्णव के घर में भूत-प्रेत आदि नहीं होते। कुछ अंधविश्वास ऐसे भी थे जो चिरकाल से समाज में चले आ रहे थे। जगन्नाथ जी के रथ के पहिये के नीचे आकर मरना सीधे स्वर्ग जाना माना जाता था। इस अंधविश्वास को आचार्य जी ने समाप्त किया और स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पहिये के नीचे मरना दुर्लभ मनुष्य-देह को व्यर्थ ही नष्ट करना है। तीर्थ यात्रा और तीर्थ स्थान आदि को भी आचार्य जी ने स्वीकार नहीं किया और कहा कि मथुरा, रेणुका या किसी भी पुण्योदक स्थल पर जाकर मरना मोक्ष-प्राप्ति का साधन नहीं है। इसीलिए उनके शिष्यों ने अपने जीवन के अंत समय पर किसी तीर्थ स्थल पर जाकर प्राण त्याग नहीं किया। जो लोग कठिन निर्जल व्रत रखकर ईश्वर-प्राप्ति का स्वप्न देखते हैं वे भी सही मार्ग पर नहीं चलते। व्रत रखने से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवत्सेवा ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। जिसे महात्मा गांधी ने दरिद्रनारायण कहकर अपनाया और हरिजन का नाम दिया, वह व्यक्ति वल्लभ संप्रदाय में भी धनी व्यक्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा जाता था। धन का मद मनुष्य की बुद्धि को भ्रष्ट करता है। निर्धन व्यक्ति हरि की शरण में रहकर शांत भाव से जीवनयापन करके सुखी रहता है। सुबोधिनी टीका' में लिखा है—"न हि साधन सम्पत्त्या हरि स्तुष्यति कस्यचित् । भक्तानांदैत्यमेवेकं हरितोषण साधनम् ।" सम्पत्तिशील व्यक्ति को सम्पत्ति का ट्रस्टी बनकर ही रहना चाहिए। धन-सम्पत्ति से होने वाला अनर्थ तभी दूर रह सकता है जब हम धन को कृष्णार्पण करके अपने पास रखें।

श्री वल्लभचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग में श्रम की महत्ता का वर्णन है। प्रभु सेवा के लिए भक्त को तनुजा सेवा को स्वीकार करना चाहिए। यह तनुजा सेवा श्रम-साध्य है। तनुजा सेवा शारीरिक श्रम से संयुक्त होकर भक्त को भगवान के समीप ले जाने वाली सिद्ध होती है। उस युग में श्रीकृष्ण की पूजा के स्थल तोड़े जा रहे थे, अतः वल्लभाचार्य ने प्रत्येक भक्त के घर को मंदिर बनाकर वहीं

सेवा-पूजा का विधान कर दिया। फलतः भक्तगण अपने घर में ही भगवान का मंदिर बनाकर सेवा करने लगे। इस प्रकार श्रम को जीवन क्रम में पूरा स्थान प्राप्त हो गया। 'तत्वदीप निबंध' ग्रंथ में जगत को भगवत् कार्य रूप और सत् मानकर व्यवहार करने की प्रेरणा दी है। उन्होंने यह भी कहा है कि भगवान सुख के समय न आकर दुख के समय ही आते हैं। मनुष्य को अपने भीतर विवेक, धैर्य और आश्रय नामक तीन गुणों को संचित करना चाहिए। यह विवेक शब्द सद्-असद् बुद्धि का प्रदाता तो है ही, साथ ही परमात्मा की इच्छा से यह विश्व परिचालित हो रहा है इस विवेक बुद्धि को सदा जाग्रत रखना चाहिए। जीवन-पर्यंत सब प्रकार के दुखों को सहन करते रहना धैर्य है तथा इस संसार में परमात्मा को छोड़कर किसी और का आश्रय न लेना ही आश्रय भाव है। इन तीनों गुणों को धारण करके ही भक्त परमात्मा के समीप पहुंच सकता है।

हिंदी के इतिहास-ग्रंथों और समालोचनाओं में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का यह मत प्रायः स्वीकृत किया जाता रहा है कि भक्ति संप्रदाय के कवि और आचार्य लोक रंजन का कार्य करते रहे। 'सूरदास' शीर्षक ग्रंथ में शुक्ल जी ने सूर को लोक रंजन का कवि माना है, लोक मंगल का नहीं। वस्तुतः यह एक पक्षीय मत है। आचार्य वल्लभ के सभी ग्रंथों में लोक मंगल विधान की दृष्टि सर्वत्र व्याप्त है। उसी के आधार पर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने भी लोक मंगल को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। गोपियों को प्रेम की ध्वजा बनाकर भगवत्प्रेम का प्रसार करना ही पुष्टिमार्ग का लक्ष्य रहा है। जहां प्रेम भाव की प्रधानता होगी वहां मात्र लोक रंजन न रहकर लोक मंगल स्वतः चला आएगा। अतः वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों में लोक मंगल का भाव सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। अष्ट छाप के कवियों ने अपने युग की धर्म साधना के साथ, समकालीन अर्थव्यवस्था, सामाजिक मान्यताएं तथा लोक जीवन के विविध पक्षों पर भी अपने विचार काव्य-शैली में व्यक्त किए हैं। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण के लीला वर्णन में कुछ ऐसे संदर्भ जोड़े हैं जो लोक जीवन से ही ग्रहण किए गए हैं। पनघट लीला, दानलीला आदि लीला वर्णनों में इन कवियों ने अपनी मौलिक उद्भावना के साथ लोक संस्कृति से भी ग्राह्य संदर्भ जुटाए हैं।

श्री वल्लभाचार्य जी की उपासना मर्यादा-मार्गीय न होकर भावसिद्धा उपासना है। इस उपासना में शास्त्रानुमोदित किसी क्रिया-कलाप या कर्मकांड की अनिवार्यता नहीं है, प्रिय का सतत साहचर्य ही इसका आधार होता है। सतत साहचर्य में सेवा की प्रमुखता है। साहचर्य से समर्पण का भाव परिपुष्ट होता है। यही पुष्टिमार्ग की विशेष देन है। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तन का उद्देश्य भक्तों को भगवान के अनुग्रह पर निर्भर करना है। पुष्टि शब्द का अर्थ ही पोषण अर्थात्

अनुग्रह है। भक्ति के क्षेत्र में पुष्टि मार्ग के आगमन से भक्तों के मन में ईश्वर विश्वास के साथ ईश्वर के साहचर्य की भावना को सुदृढ़ आधार मिला। इस आधार-भूमि के दर्शन कराने में गुरु का प्रमुख योगदान है। बिना गुरु-कृपा के यह भगवत्साहचर्य सुलभ नहीं हो सकता। इसी कारण पुष्टि मार्ग में दीक्षा लेने वाले भक्त को गुरु पर पूर्ण आस्था रखकर काम करना होता है। गुरु का स्थान भगवान के समकक्ष भी कहा गया है। इस संप्रदाय के परवर्ती कवियों ने श्री वल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ की स्तुति गुरु के रूप में की है। विट्ठलनाथ जी ने भी अपने पिता को गुरु और भगवत्स्वरूप माना है।

पुष्टिमार्ग की भक्ति में अनन्य भाव की शुद्ध सात्विक भक्ति का विधान है। अनन्य भाव से तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण को छोड़कर किसी अन्य देवी-देवता की भक्ति न की जाए। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भक्ति का उपदेश देते हुए इसी प्रकार की अनन्य भक्ति की बात कही है। वल्लभाचार्य के मत में श्रीनाथ जी की सेवा में तत्पर भक्त द्वारा किसी अन्य नाथ को स्वीकार न किया जाए। राधा और कृष्ण में अभेद मानने पर भी 'श्री' शब्द को राधा-वाचक और नाथ को स्वामी-वाचक कृष्ण के अर्थ में स्वीकार किया जाता है। 'श्री' शब्द लक्ष्मी का द्योतक है किंतु वल्लभ संप्रदाय में श्री को राधा-वाचक मानकर 'श्रीनाथ' जी के विग्रह की सेवा का विधान है। एक ही शब्द को 'राधाकृष्ण' मानकर अद्वैत संज्ञक बनाकर जो प्रयोग हुआ है वह अन्य नामों से पृथक् है।

वल्लभ-संप्रदाय में विगत साढ़े चार सौ वर्षों से जो सेवा-अर्चा पद्धति प्रचलित चली आ रही है उसमें अष्टयाम सेवा का महत्व ही सर्वोपरि है। अष्टयाम सेवा में बाह्य प्रसाधनों में अवश्य कुछ परिवर्तन हुआ है। किंतु वह भावात्मक न होकर शृंगारपरक ही है। नाथद्वारा, मथुरा, गोकुल, कांकरोली, गोवर्धन आदि के विग्रहों में श्रीनाथ जी के विग्रह की ही प्रतिष्ठा है किंतु वस्त्राभरण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है। भावसिद्धा उपासना तो यथावत चली हुई है और भक्तगण अपनी-अपनी भावना के अनुसार ही उपासना करते हैं। श्री विट्ठलनाथ जी ने अष्टयाम सेवा में जो परिवर्तन किए थे वे वे अद्यावधि चले आ रहे हैं। अष्टछापी कवियों ने अपनी भक्ति-भावना से इस सांप्रदायिक सेवा को अपने पदों में भजन-कीर्तन से लोकप्रियता प्रदान कर सर्वजन सुलभ और सार्वदेशिक बना दिया है। आज सूरदास, परमानंददास, आदि के मधुर गेय पद इस कीर्तन पद्धति को मोहक और आकर्षक बनाने में सफल हुए हैं। राधाकृष्ण की भक्ति में विश्वास रखने वाले भक्तगण अष्टछाप सेवा में इनके संगीतपूर्ण पदों से कीर्तन करते हैं। भजन-कीर्तन की यह मोहक शैली अन्य संप्रदायों में भी इनके प्रभाव से जीवित है। श्री वल्लभाचार्य ने तो

ब्रजभाषा में पद रचना नहीं की किंतु अष्टछापी कवियों तथा उनके समकालीन अनेक कवियों ने पद रचना द्वारा वल्लभ-संप्रदाय के ब्रजभाषा काव्य को समृद्ध किया। वल्लभ-संप्रदाय ने ब्रजभाषा को जो गौरव प्रदान किया वह हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। सूरदास ने अपने गुरु आचार्य श्रीवल्लभ के आदेश को शिरोधार्य कर विनय भक्ति के घिघियाने पद छोड़कर कृष्णलीला गान प्रारंभ कर 'सूरसागर' जैसे कालजयी काव्य की रचना की जो साहित्य और संगीत का संगम-स्थल बन गया।

8

उपसंहार

श्री वल्लभाचार्य का युग राजनीतिक दृष्टि से शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का युग नहीं था। मुगल साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी भारत की जनता धार्मिक दृष्टि से सुखी और संतुष्ट नहीं थी। शंकराचार्य के समय से ही चिंतन के क्षेत्र में कई विचारधाराएं पनप रही थीं। अद्वैत दर्शन के बाद रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत दर्शन अपने पूरे प्रभाव से समाज को नयी दिशा में मोड़ चुका था। निम्बाकाचार्य और मध्वाचार्य की दार्शनिक मान्यताएं ब्रह्मवाद की पुनरावृत्ति न करके भक्ति को नया आयाम दे रही थीं। बौद्ध दर्शन का प्रभाव इन सब मतों के प्रचार से स्वतः क्षीण हो गया था। हिन्दू समाज में एक प्रकार की बेचैनी थी जो भक्ति के नये-नये रूप पाकर उलझन की स्थिति में भगवद् भक्ति का शांतिपूर्ण मार्ग खोजने लगी थी। ऐसे समय में राजनीतिक आतंक भी यदि अपना प्रभाव दिखाकर जनता को त्रस्त करने लगे तो निश्चय ही मनुष्य एक ऐसी दैवी शक्ति की शरण में जाना चाहता है जो उसे द्वन्द्व और संघर्ष से मुक्त करके शांति और सुख का मार्ग दिखा सके। ऐसे धार्मिक वैचारिक द्वन्द्व के समय श्री वल्लभाचार्य जी का प्रादुर्भाव हुआ। वल्लभाचार्य जी ने अपने विचार के लिए प्रारंभ में दर्शन का आश्रय न लेकर 'भागवत पुराण' की भक्ति पद्धति के आधार पर अपनी भक्ति का प्रचार प्रारंभ किया। इस भक्ति को उस समय भगवत धर्म के नाम से भी अभिहित किया गया। भागवत धर्म कोई नया धर्म नहीं था, वह तो श्रीकृष्ण को आराध्य बनाकर उनकी 'भागवत पुराण' वर्णित लीलाओं का सहज रूप से ग्रहण मात्र था। इसी भक्ति को बाद में उन्होंने पुष्टिमार्ग नाम देकर प्रचारित किया। यही भागवत संप्रदाय भी कहा जाता है।

भागवत संप्रदाय के अंतर्गत उन संप्रदायों को भी स्थान मिलता है जो श्रीकृष्ण को अपना इष्ट-उपास्य मानकर उपासना, सेवा, अर्चा, पूजा आदि करते हैं। किंतु वल्लभ-संप्रदाय में दार्शनिक या सैद्धांतिक स्तर पर विद्वेष का वातावरण नहीं था। शताब्दियों से चलती आ रही कटुता का वातावरण शांत और मधुर हो गया। भक्ति की ऐसी पवित्र लहर उत्पन्न हुई कि विभिन्न विचारधाराओं के मनीषी विद्वान एक मंच पर एक साथ बैठकर भगवद् भक्ति विषयक विचार-

विनिमय में आनंद का अनुभव करने लगे। वल्लभाचार्य ने न तो धार्मिक विद्वेष का वातावरण उत्पन्न किया और न विधर्मी लोगों से किसी प्रकार का संघर्ष मोल लिया। वल्लभाचार्य की भक्ति का आधार भगवत्प्रेम था। पुष्टिमार्ग में भगवदनुग्रह को ही सब कुछ माना जाता है, अतः श्रीकृष्ण की कृपा की आकांक्षा के सिवा कोई और अभिलाषा भक्त के मन में नहीं होती। यह कृष्णार्पण की भक्ति प्रेम और समर्पण की ही सहज योजना है।

श्री वल्लभाचार्य ने अपने विचारों के प्रचार के लिए कई बार विभिन्न प्रदेशों की यात्राएं कीं। इन यात्राओं से पारस्परिक सौमनस्य का सुखद वातावरण बना। देशाटन की भौतिक सुविधा न होने पर भी वे पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से दक्षिण तक भ्रमण करते रहे और काशी, प्रयाग, मथुरा आदि पवित्र तीर्थ स्थलों पर अपने धार्मिक मंतव्यों के प्रचार के लिए शिष्य मंडली भी तैयार करते रहे। ब्रज मंडल में आकर उन्होंने ब्रजभाषा-भाषी कवियों को अपनी भक्ति में दीक्षित किया। इन अष्टछापी भक्त कवियों ने वल्लभ-संप्रदाय को अपने संगीत और गेयपदों से लोकप्रिय बनाने में अमित योग दिया।

श्री वल्लभाचार्य ने अपने युग की भक्ति को पुष्टिमार्गीय बनाकर जो नया रूप दिया उसमें अनुग्रह के साथ मधुरभाव की विशेषता है। श्रीकृष्णकी लीलाओं को अपने भजन-कीर्तन में स्थान देकर उन्होंने ऐसा मनोहारी एवं चित्ताकर्षक बना दिया कि साधारण व्यक्ति भी उसमें डूबकर रस-विभोर हो सकता है। उनके पुष्टिमार्ग में ऊंच-नीच या वर्ण-विभाजन नहीं था। सभी वर्णों के व्यक्ति दीक्षित हो सकते थे। उनकी शिष्य मंडली में जाति-पांति का भेद-भाव नहीं था। मंदिर का व्यवस्थापक कृष्णदास किसी ऊंची कही जाने वाली जाति का व्यक्ति नहीं था। महिलाओं को भी दीक्षा का अधिकार देकर उन्होंने नारी जाति की प्रतिष्ठा स्थापित की। सती प्रथा जैसी क्रूर और भीषण यातनामयी प्रथा का उन्होंने विरोध किया और अपने शिष्यों को इससे दूर रहने का उपदेश दिया। भारत के सुंदर स्थानों, नदियों और प्रदेशों की महिमा का बखान करने पर भी तीर्थ यात्रा अथवा रथचक्र के पहिये के नीचे आकर मरना अनुचित ठहराया। एक प्रकार से तत्कालीन धार्मिक अंधविश्वासों को दूर करने की दिशा में आचार्य जी ने जागृति का काम किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य की जीवन-यात्रा मानवमात्र के कल्याण को लक्ष्य बनाकर चलती रही। गृहस्थ धर्म में आस्था रखते हुए भक्ति और प्रेम का जो संदेश उन्होंने दिया वह पाखंड से सर्वथा दूर, घरबार छोड़कर वैरागी बनने की धारणा के सर्वथा प्रतिकूल था। उनकी मान्यता थी कि कृष्ण प्रेम में जीवन की सार्थकता है। भक्तिपूर्ण सदाचरण से ही प्रभु प्रसन्न होते हैं और उनके अनुग्रह से ही भक्त का जीवन-पथ प्रशस्त होता

है। उनके सामाजिक व्यवहार और आचरण पर विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मानव के शुद्ध अन्तःकरण से, पूर्ण आस्था के साथ भगवान के अनुग्रह का प्रयत्न करना चाहिए। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तन में आचार्य जी का यही उद्देश्य था। परम भागवत वल्लभाचार्य जी ने शिखा-सूत्र तोड़कर, दंड धारण करने वाला संन्यास ग्रहण नहीं किया क्योंकि वे जनता को विरक्त साधु-संन्यासी के रूप में नहीं देखना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि एकांत भक्ति के मार्ग पर चलते हुए आनंद की प्राप्ति करें। उन्होंने अपना नाम भी पूर्णानंद रखा किन्तु सांसारिक जनों से संपर्क नहीं तोड़ा। सबको उपदेश देते हुए ही गंगा तट पर काशी में रहते रहे। अपने जीवन के अंतिम क्षणों में उन्होंने गंगा में स्नान करते हुए समाधि ग्रहण कर ली। सांप्रदायिक जनश्रुतियों में उनके गोलोक-वास के विषय में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हैं। इनसे महाप्रभु की दिव्य दृष्टि और सांसारिक मायामोह से निर्लिप्तता सिद्ध होती है।

वल्लभ-संप्रदाय की भक्ति पद्धति का प्रभाव उस युग में धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं वरन् सामाजिक क्षेत्र में भी लक्षित होता है। उस समय के समाज में वैष्णव, शैव, शाक्त आदि संप्रदायों में जो कटुता व्याप्त थी उसे वल्लभाचार्य ने अपने समन्वयकारी विचारों से दूर किया और समस्त हिन्दू समाज को कृष्ण भक्ति की पावन धारा में लाने में सफलता प्राप्त की। उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने इस दिशा में और अधिक स्पृहणीय कार्य किया और अपने संप्रदाय को उत्तर से पश्चिम—गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान तक फैलाया। भक्ति की यह पावन धारा उस समय जिस वेग से प्रवाहित हुई उसे देखकर केवल हिन्दू जनता ही नहीं मुस्लिम जनता और शासक दोनों प्रभावित हुए। ब्रज क्षेत्र में अहिंसा तथा पूजा-पाठ की स्वतंत्रता देकर मुगल शासकों, ने आचार्य जी के प्रति उदार भाव का परिचय दिया। यह आचार्य जी की समन्वयात्मक शैली का ही प्रभाव था कि राजनीतिक द्वन्द्व और संघर्ष के समय भी भक्ति आंदोलन की लहर बड़ी शांति के साथ भारत में फैलती रही। आचार्य वल्लभ ने भक्ति को माधुर्य, प्रेम, स्नेह और समर्पण की उदात्त भावनाओं से इतना प्लावित कर दिया था कि उसमें निमज्जित होकर मानवता का भाव ही सर्वोपरि रहता था। मानव कल्याण की भावना से उन्होंने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया। पुष्टि भाव को भगवान के साथ जोड़कर भक्त ही नहीं, साधारण जन की मानसिकता को भी समर्पण से पूरी तरह संयुक्त कर दिया। उनके उपदेश, उनके मंतव्य, उनकी भक्ति पद्धति और समन्वयकारी दृष्टि आज भी प्रासंगिक है। जनमानस को शांति और संतोष प्राप्त करने के लिए आधुनिक युग-संदर्भ मेंआचार्य जी के आचार-व्यवहार और शील-सदाचार की आवश्यकता है। मानव प्रेम की जैसी आवश्यकता आज है वैसी व्यापकता शायद पहले भी नहीं थी। आज विश्व भौगोलिक दूरियों से हटकर बहुत समीप आ गया है।

वैश्विक चेतना के लिए मानव कल्याण और विश्वबंधुत्व अनिवार्य हो गए हैं। किंतु भौतिक भोग-विलास की प्रवृत्ति बढ़ रही है। विज्ञान ने भौतिक सुविधा के साधन जुटाकर अध्यात्म से विमुख बना दिया है। ऐसे समय में भक्ति-समन्वित प्रेम और अहिंसा का मार्ग ही मानवता की रक्षा करने में समर्थ है। श्री वल्लभाचार्य ने अपने कार्यों और उपदेशों से इसी मार्ग को प्रशस्त किया था।

मुद्रक : शान प्रिंटर्स शाहदरा, दिल्ली-110032